

नि-शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग

लेखक
पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक
सेवा मन्दिर, २१, बरियागंज, नई-दिल्ली-२

प्रकाशक :
बीर सेवा मन्दिर सोसायटी (रजि०) |
२१, दार्यागज, नई दिल्ली-२



मूल्य : मनन चिंतन :
दो रुपये

प्रथमावृत्ति : १०००
बीर निर्वाण मवत् : २५०८
वि० म० २०३८
मन् १६८२ ई०



मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेंसी,
सीलमपुर, द्वारा विध्यवासिनी
पेंकजिंग, न्यू सीलमपुर, दिल्ली।

अनुक्रमणिका

क्रम	पृष्ठ
१. प्रकाशकीय	५
२. प्राक्कथन	७
३. अनादि मूलमन्त्रोक्तम्	१
४. भगवान् पार्श्व के पंचमहाव्रत	६
५. पर्येषण और दशमक्षण पर्व... ..	२१
६. अपदेशमत्तमञ्जं	२७
७. आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत	३१
८. आत्मा का अमख्यानप्रदेशन्व	३६
९. स्वम्भिक रहस्य	४६
१०. परिशिष्ट	५५

मेरा अपना कुछ नहीं, सब आचारज बन ।
लोग भ्रम मो पर करे, याने नीचे नैन ॥

गुरु-बाणी संख्य करन, प्रकट करन जिन बन ।
पुण्य कार्य या जगत में, जानें सब ही जैन ॥

मन्द-वृद्धि में भक्ति-युत, आप्रह मम कछु नाहि ।
तप्य-प्रतप्य बिचारिकं, सुखी धरो मन माहि ॥”

पद्मचन्द्र शास्त्री
बीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

प्रकाशकीय

जैन आचार, तत्त्वज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्वादि के अनुसन्धान में बीर-मेवा मन्दिर की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह संस्था ग्रन्थ प्रकाशन एवं 'अनेकान्त' पत्रिका के माध्यम से जनता की सेवा में सतत संलग्न रही है।

प्रबुद्ध पाठकों के मुझाव पर 'अनेकान्त' के कुछ लेखों का यह संकलन नए आयामों के विचार में सहयोगी होगा। सभी लेख श्री पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित और चिन्तनपूर्ण हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में विद्वद्भर श्री पं० कैलाशचन्द्र सि० शास्त्री के प्राक्कथन के बाद हमें कुछ लिखना शेष नहीं रह जाता। पंडित जी ने सभी स्पष्ट कर दिया है। इस कृपा के लिए हम पंडित जी के अति आभारी हैं।

इस प्रकाशन में कम्पोजिंग व छपाई का पूरा व्यय श्री रघुवीरसिंह जैन धर्माथे ट्रस्ट (जैना वाच कं०) ने तथा कागज-व्यय श्री मुमूदीलाल जैन चैरी० ट्रस्ट, दिल्ली ने बहन किया और आवरण-कागज श्री सागरचन्द्र जैब एण्ड सन के भोजन्य से प्राप्त हुआ। ये उन सभी के धर्म प्रेम और संध्या में रचि का परिचायक हैं। हम उनका हृदय में धन्यवाद करते हैं।

सुभाष जैन

महामचिव, बीर मेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्राक्कथन

जिन शासन या जैन धर्म आचार और विचार का आकर है। उसमें निहित-नस्व चित्तों और अन्वेषणकर्ताओं के लिए मदा आकर्षण का केंद्र रहे है। प० पद्मचन्द्र जी ने एक नस्वान्वेषक और नस्व जिज्ञासु के रूप में जिन-शासन के कुछ विचारणीय प्रसंगों पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश डाल कर अध्ययन की रुचिकर सामग्री प्रस्तुत की है। उनका यह अध्ययन व्यापक है। उन्होंने दिगम्बर साहित्य की ही तरह श्वेताम्बर साहित्य का भी आलोचन किया है और इसमें उसका महत्त्व बढ़ गया है, क्योंकि उसमें जिन-शासन की दोनों धाराओं का निष्पक्ष अवगाहन किया गया है।

१. प्रथम विचारणीय प्रसंग है अर्थात् मूलमन्त्र या पञ्चनमस्कार मन्त्र। यह मन्त्र समस्त जैनों का मान्य मूलमन्त्र है। श्वेताम्बर परम्परा में इसे नवकार मन्त्र कहते हैं क्योंकि पाँच नमस्कारों के साथ 'णमो पञ्च णमोकारो' आदि चार पद जोड़ कर नौ पद होते हैं। श्वेताम्बरीय तथु नवकार मन्त्र में इस मन्त्र का माहात्म्य बतलाते हुए इसे जैन शासन का मार्ग और चौदह पुरवों का उद्धार कहा है।

यथा- "जिणमामणम्म मार्गे चउदमपुब्बाण जों ममुद्धारो।

जम्म मणे णवकारो, ममारो नम्म कि कुणह ?"

अर्थात् जो जिन शासन का मार्ग है और चौदह पुरवों का उद्धार रूप है ऐसा नमस्कार मन्त्र जिसके मन में है ममार उमका क्या कर सकना है ?

दिगम्बर संप्रदाय में नमस्कार मन्त्र का एक ही रूप पाया जाता है किन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय में कुछ भेद है। जिसका विवेचन प० पद्मचन्द्र जी ने किया है। नमस्कार मन्त्र में प्रथम चार पदों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तिम पद में अन्तर है। भगवती सूत्र में अन्तिम पद 'णमो बभ्रोण लिबीण' है अर्थात् माधुओं के स्थान में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है किन्तु उस पर अभयदेव सूत्र की संस्कृत टीका में 'णमो मव्व माहूण' पाठ है। तथा 'णमो लोण, मव्व माहूण' को उसका पाठान्तर कहा है। इस अन्तिम पद में आगे 'लोण' और 'मव्व' पदों को लेकर दिगम्बर परम्परा में भी विवाद चलता है। किन्तु ध्वला टीका में लिखा है कि ये दोनों पद अन्नदीपक हैं। अतः उनकी अनवर्तिता एवं के

चारों पदों में भी करनी चाहिए । अर्थात् लोक के सब अग्रहणों को नमस्कार हो, लोक के सब मित्रों को नमस्कार हो। इसी तरह पाचों पदों का अर्थ जानो ।

२. दूसरा प्रसंग है— भगवान् पार्श्व के पाच महाव्रत । श्वेताम्बर आगमों में ऐसा कथन है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने चार ही महाव्रत कहे थे— मैथुनव्याग अलग नहीं था उसका ग्रहण परिग्रह व्याग में किया जाता था , क्योंकि स्त्री को ग्रहण किए बिना भोगा नहीं जा सकता । पीछे भगवान् महावीर ने अपने तीर्थ में पाच महाव्रतों का उपदेश किया , क्योंकि पार्श्वनाथ के शिष्यों ने उसका दुरुपयोग किया था । इसी का परीक्षण और विवेचन पंडित जी ने अपने लेख में किया है जो विशेष रूप से पढ़ने लायक है ।

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में भी यह कथन मिलता है कि बार्हम तीर्थंकर सामायिक, परिग्रह विशुद्धि, मृक्षम सापराय और यथाख्यात चारित्र्य का ही उपदेश करने है, क्यों कि उनके समय के माधु मग्न और विद्वान् होने में समय में दूषण नहीं लगाने । किन्तु प्रथम अन्तिम तीर्थंकर पाचवें छंदो-पर्यापना समय का भी उपदेश देते हैं । किन्तु चार और पाच महाव्रतों का कथन दिगम्बर परम्परा में नहीं मिलता । यद्यपि चार और पाच समयों की तरह चार और पाच महाव्रतों के उपदेश का अन्तर संभव है और इसका समर्थन शौद्रघ्यान के चार भेदों में होता है । शौद्र के चार भेद हिमानन्दी, अगन्यान्दी, चौयानन्दी और विषय संरक्षण आनन्दी है । विषय संरक्षण में मैथुन और परिग्रह दाना गंभीर हैं ऐसी ही स्थिति चातुर्याम की हो सकती है ।

श्वेताम्बर आगम सूत्र (२-६६) की टीका में लिखा है 'मध्य' के बार्हम तीर्थंकर तथा विद्वद्भ्यः तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का तथा प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर पंचायाम धर्म का कथन शिष्यों की अपेक्षा में करते हैं । वास्तव में तो दोनों ही पंच-पंचायाम धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं । किन्तु प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ के माधु मग्न में ऋतु-जट और वक्र-जट होने हैं । उन परिग्रह छोड़ने का उपदेश देने पर परिग्रह व्याग में मैथुन व्याग भी गंभीर है यह समझने में और समझ कर उसका व्याग करने में असमर्थ होते हैं । किन्तु जेप तीर्थंकरों के तीर्थ के माधु ऋतु और प्राज्ञ होने के कारण तुरन्त समझ लेते हैं कि परिग्रह में मैथुन भी गंभीर है क्योंकि बिना ग्रहण किए स्त्री को नहीं भोगा जा सकता ।

३. तीसरा प्रसंग है पर्यपण और दशलक्षण पर्व । भगवती आराधना गाथा ६२३ में माधु के इस कल्प बनलाग है । यही गाथा श्वेताम्बर आगमों में भी मिलती है । इनमें अन्तिम कल्प पञ्चोत्सवण है टीकाकार अपराजितमूर्ति ने

इसका अर्थ किया है वर्षाकाल के चार मासों में धर्मण का त्याग करके एकत्र रहना । इसका उत्सर्गकाल एक सौ बीस दिन कहा है । कारणवश इसमें कम और अधिक दिन भी रहना सम्भव होता है । इसी के अन्तर्गत दिगम्बरों में भाद्रमास के अन्तिम दिन बिना भोजन-क्षण एवं मनाया जाता है । इसका पुराना नाम पर्येषण एवं ही है । प० जी १२१॥१२॥ मान्यता को सामने रख कर विस्तार में प्रकाश डाला है जो पाले पाये हैं ।

४ चतुर्थ विचाराणीय प्रसंग समग्रतः ही १५वीं गाथा के तृतीय चरण में सम्बद्ध है । उसके दो पाठ मिलते हैं 'अपदेश मूलमज्ज' और 'अपदेशमन-मज्ज' आचार्य अमृतचन्द्र जी टीका में जो गाथा का शब्दार्थ व्याख्यान नहीं है आचार्य जयमेन ने अपदेशमूलमज्ज पद का व्याख्यान किया है और उसे 'जिणसामण का शिक्षण माना है किन्तु अमृतचन्द्र जी ने शब्दार्थ व्याख्यान नहीं करके भी प्रकाशान्तर में उसका व्याख्यान किया है तथा चमत्कार है । १६वीं गाथा में कहा है जो आत्मा को अन्तः प्रमाण, अन्तः नियम विशेषण और अमयुक्त दर्शना है उसे गुह्य नय जाना । १७वीं गाथा में इन पांच विशेषणों में अबद्ध अणु अणु और शिक्षणों का विशेषण व्याख्यात है । दो विशेषण नियम और अमयुक्त पदों में है । किन्तु अमृतचन्द्र जी टीका में पूर्वोक्त पांच विशेषणों में शिक्षणों का जो भी अन्तर्भाव का समग्रतः जिन-शामन की अन्तर्भाव नहीं है तथा ही अन्तर्भाव रख्य जाता है । उस पर से ऐसा प्रतीत होता है । अमृतचन्द्रजी ने इस विशेषण छिपे हुए है । प० जी ने इसी पर विस्तार में प्रकाश डाला है । जयमेन जी ने जो व्याख्यान किया है उसमें मज्ज पद का व्याख्यान नहीं है तथा शब्द समग्र में वाच्य और ज्ञान समय में जो परिच्छेद है उसे अपदेशमूलमध्य कहते हैं । इसी तरह प० जी ने 'मूलमज्ज' पद रख कर जो आत्मा को आत्मा के मध्य' अर्थ किया है वह भी गलत नहीं उत्तरना । इसमें तो प्रदेश अर्थात् आदि और अन्त रहित मध्य में रहित अर्थात् आदि अन्त मध्य रहित' अर्थ अधिक उपयुक्त जाचना है । अमृतचन्द्र जी ने दशवे कलश में गुह्यनय का स्वरूप दर्शाने हुए आत्मस्मृति का एक विशेषण 'आद्यन्तविमुक्त' कहा है उसके साथ भी उक्त अर्थ की सर्वाति बैठ जाती है अतः उक्त चरण का अर्थ अभी भी विचाराणीय ही प्रतीत होता है ।

५ पाचवा प्रसंग भाषा सम्बन्धी है । आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत के सम्बन्ध में स्व० डा० ए० एन० उपाध्याय ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में विस्तार में प्रकाश डाला है और वह हम विषय के अधिकारी विद्वान् थे ।

प० जी ने भी उसको देखा है । प० जी का यह लिखना यथार्थ है कि प्राकृत भाषा के ग्रन्थों को भाषा की दृष्टि में मशोधन करना ठीक नहीं है मस्कृत भाषा का तो एक बड़ा हुआ स्वरूप है किन्तु प्राकृत भाषा की विविधता में यह संभव नहीं है उसमें अर्थ में विवरण का भय रहता है ।

६ छठा प्रसंग है आत्मा का असकृयानुप्रदेशित्व । यह कोई विवाद-ग्रस्त विषय नहीं है । तन्वायवार्तिक के पाचवे अध्याय के ८८वें सूत्र में अकल्मष-देव ने द्रव्यों की प्रदेशकल्पना पर विस्मय में प्रकाश डाला है । निश्चयनय में आत्मा का असकृयानु प्रदेशी कहा है । जैनदृष्टि में जो सर्वथा अप्रदेशी है वह अवस्तु है किन्तु अकल्मषदेव ने शुद्ध नय में उपयोग स्वभाव आत्मा को अप्रदेशी कहा है यही अप्रदेशी का मतलब एक भी प्रदेश न होना नहीं है किन्तु अखण्ड अनुभव में है । वही शुद्धनय का विषय है ।

अन्तिम प्रसंग है स्वात्मिक । प० जी ने इस पर नवीन दृष्टि में विचार किया है अभी तक तो यही माना जाता रहा है कि मीठी और आड़ी दोनों लकीरे जीव और पुद्गल के सम्बन्ध की सूचक है और उसका फल चार गणियों में भ्रमण है । उभी का प्रतीक स्वात्मिक है । किन्तु प० जी ने उसे चत्वारि-मूल में जोड़ा है यह प्रसंग भी पढ़ने योग्य है । प० जी के उक्त प्रसंगों के सभी बिबेचन पढ़ने योग्य है ।

वाराणसी

(सिद्धाभ्यासाय) कैलाशचन्द्र शास्त्री

२७-२-८२

अनादि मूलमंत्रोऽयम् ।

जैन मतार में णमाकार मंत्र का प्रचलन गणानामय मंत्र है । गणों का 'म-न्याव्याणागणो' और 'पट्टम पञ्चमगण', रूप में मानने पञ्च और स्मरण करने हैं । मान्यता ऐसी है कि प्रसिद्ध यह मंत्र अनादिमूल और अपराजित है 'अनादिमूलमंत्रोऽयम्', 'अपराजितमंत्रोऽयम्' इत्यादि ।

जहाँ तक मंत्र के अनादित्व की बात है । सिद्धान्तमय में नैगमनाम । अर्थात् अर्थान् — 'जो मन्त्र है उसका नाश नहीं' की रीति में णमानार नाम अनादि माना जायगा । हर चीज के मूल की अनादि माना जायगा । यत्

'मूलमूलमार्तो जेणाऽऽम-नैगमो तत्रा नम्य ।

उत्पज्ज नाभय भय न य नागम वन्थ ॥

नैगमनाम गतामात्रघाती होता है । उसी अणुता वस्तु संबंध मन्त्ररूप ही होती है । चाहे वह किसी भी पर्याय में क्या न हो । एतावता मंत्र और मगन के पात्र परमेश्वर दोनों ही अनादि सिद्ध होते हैं । यत् । जैनमान्यतानुसार आत्मा ही परमात्मा सिद्ध स्वस्व है । और आत्मा के विकासक्रम में माधु, उपाध्याय, आचार्य और अरहन् भी आत्मा-परमात्मा की भाँति अनादि हैं । यत् प्रथम प्रवाह रूप में नहीं न कहीं किसी न किसी रूप में मगन वर्तमान रहता है ।

जैन मान्यतानुसार पांच परमेश्वर अनादि बात में मान रहे हैं । और अनन्तकाल तक उनके रहने रहने में काटें मन्देह नहीं । तीर्थंकर प्रथम में अवस्थान में अनन्त चारोंगी हुई है और अवस्थानकाल में अनन्त रहनी रहेंगी । किन्तु क्षेत्र में उनकी गता संबंधकाल विद्यमान है ही । जो अरहन् अवस्था का प्राप्त होना व सिद्ध हुए जो अरहन् अवस्था का प्राप्त होना वे सिद्ध होना उगम भी मन्देह नहीं । अव्याग दशा की श्रेणी में विद्यमान (भूत-संमान-अवस्थानकाल मन्त्रधी) आचार्य उपाध्याय और माधु भी अनादि-अनन्त (मन्त्र की अवस्था) रहें, और रहेंगे । और जब-जब वे हैं तब-तब उनको नमन भी है । अतः उनके नमनभक्त णमाकार भी [मन्त्र की अर्पणा] अनादि है । उर्गीतक कहते हैं

'म नमस्कारो, नित्य एव, वस्तुन्वान् नभोवन् । नान्यद्यने नापि त्रिनध्य-नीन्यथं ।'

बहु नमस्कार नित्य —सदाकाल है, वस्तु होने में । जो जो वस्तु है वह

चतुर्वक्ष्य—

‘उच्चजाय नमोत्कारो, मन्त्रपावपणामणो ।
मगलान च मध्येमि, चउट्ठं हवट्ठ मगल ॥’

पंचमक्ष्य—

‘साहूण नमोत्कारो, मन्त्रपावपणामणो ।
मगलान च मध्येमि, पंचमं हवट्ठ मगल ॥’

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि भगवनी जी के पाठ को प्रचलित मन्त्रमय के मन्दमं से नहीं जोड़ा जा सकता ।

उक्तों मित्राय एक कारण और भी है और वह है—‘नवकार मंत्र के उच्चारण के विधान का प्रसंग । एक स्थान पर कहा गया है कि—

‘वणऽट्ठगट्ठ नवपण, नवकारे अट्ठमपया नन्थ ।

मगमपयपयनुत्त्वा, मनरऽकखर अट्ठमी दुपया ॥२२६॥

मप्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते—वर्णा अक्षराणि अष्टवष्टि,
नमस्कारे पञ्चपरमेष्ठिमहामन्त्ररूपे भवन्तीतिशेषः ।

उक्त च

‘पञ्चपयाण पणनी मवण चूलाइवण नितीम ।

एव दमो समप्पट, फुटमन्त्ररमट्ठमट्ठीए ॥’

गन्तण मत्त मत्त य, नव अट्ठ य अट्ठ अट्ठ नव पहुति ।

य पर अकखमखा, अमहू पूरेट्ठ अडमट्ठी ॥’

अभि० रा० भाग ४, पृ० १८३६

उक्त पाठ प्रामाणिक स्थाना से उद्धृत है और इनमें कहा गया है कि मंत्र को पूर्णता ६८ अक्षर प्रमाण मंत्र के पढ़ने पर होती है । अतः मंत्र को ६८ अक्षरों में पढ़ना चाहिए । अर्थात् पूरा पाठ इस भांति ६८ अक्षरों का बोलना चाहिए।

ण मा अ णि ह ना ण, ण मो मि ट्ठा ण ण मां आट्ठरियाण ।

ण मो उ व ज्जा या ण, ण मो लो ए म ख मा हू ण ॥

ए मो ण च न मो क्का (या) रो, म ख पा व प णा म णो ।

म ग ला ण च म खे मि, प ठ म ह व इ म ग ल ॥’

यदि उक्त पदों के स्थान में अधूरा रूप—‘जमो सख माहूण’ बोला जाता है, तो ‘लोए’ ये दो अक्षर कम हो जाते हैं और यदि ‘जमो बभीए लिबीए’ बोला जाता है तो एक अक्षर कम हो जाता है । दोनों ही भांति मंत्र बीसा बुक्तिसंगत नहीं बैठता जैसा कि इष्ट है । अतः—

निष्कर्ष निकलना है कि—अभि० राजेन्द्र कोष की पंक्तियाँ इस दिशा में स्पष्ट हैं—

‘आर्याग्र्यं हस्तिभदेणं ज नन्दायग्रिभेदितं, न मख ममनीयं मोहिऊणं
लिहियं ति अन्नेहि पि मिदुमेण दिवायर बुद्धादजकम्ममेण देवगुत्त जमवद्धण
क्षमाममणमीम रविगुत्त नेमिच्चदजिणदामगणि खवगमक्यामिग्गमुहेहि जुगप्प-
हाण मपहरेहि बह्मन्निअमिण नि [महा० ३ अ०] अन्यत्र तु मप्रति
वर्तमानाऽऽगमः, तत्र मध्ये न कुत्राप्येव नवपदाङ्ग-मः आदि प्रमाणा नपकारउज्ज॥
दृश्यन्ते । ततो भगवत्यादावेव पचपदान्युक्तानि । नमो अग्निहाण, नमो मिद्धाण,
नमो आर्याग्र्याणं, नमो उवज्झायाण, नमो बभीण् लिवीण्’ इत्यादि ।

[अभि० राज० भाग ८, पृ० १८३७]

इसका अर्थ विचारने पर यही सिद्ध होता है कि सभी आचार्य -
हस्तिभद्र, मिद्धमेन दिवाकर, बुद्धवादी, यक्षमेन, देवगुप्त, जमवर्धन, क्षमाधमण-
जिप्य रविगुप्त, नेमिचन्द्र, जिनदामगणि आदि ६८ अक्षरों वाले पाठ को युक्ति-
संगत मानते हैं और वही पञ्चपदागम के पाठ तथा अन्य आगमों के पाठों में
[पचपद व पौनीम अक्षर की मान्यता में भी] ठीक बैठता है और मः की
एकरूपता को भी सिद्ध करता है। जब कि श्री भगवती जी का पाठ उसी श्रेणी
में अनुकूल नहीं बैठता ।

धाया और लिपि जो भी हों [दोनों ही परिवर्तनशील हैं] पर, मयगठन
और पात्रों की दृष्टि में मन्त्र के युक्ति-संगत-अनादित्व को सिद्ध करने वाला
रूप-प्रथमरूप ही है, जो पचपदभेदी गभिन रूप है। ‘बभीण् लिवीण्’ मूलमन्त्र
का अंग नहीं है। हाँ, यदि इन पदों को मन्त्र मानना छूट हो तो अन्य बहुत से
मन्त्रों की भाँति आठ अक्षरों वाला एक पृथक् मन्त्र स्वीकार किया जा सकता है।

एक बात और, भगवती जी में [जैसा कि पत्रिले मन्त्र के द्वितीय रूप में
बनलाया जा चुका है] मन्त्र के अन्तिम पद में ‘लोण्’ पद के न होने की बात
इससे भी सिद्ध होती है कि वही मन्त्र में गभिन ‘मख्’ पद के प्रयोजन को तो
सिद्ध किया गया है, जो कि अन्य चार पदों की अपेक्षा विशेष है। पर, लोण्
का प्रयोजन नहीं बनलाया गया। यदि वही ‘लोण्’ शब्द होता तो सूत्रकार
उसका भी प्रयोजन बनलाते। क्योंकि ‘लोण्’ भी ‘मख्’ की भाँति— अन्य पदों
से विशेष है। तथाहि—

‘यहाँ पर ‘मख्माह्वणं’ पाठ में ‘मख्’ शब्द का प्रयोग करने में
सामयिक विशेष, अप्रमत्तादिक, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, यथा-

निवादि कल्पिक, प्रत्येक बुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधित प्रमुख गुणवर्ण साधुओं को भी ग्रहण किये हैं ।' — विवाहपण्णत्ति [भगवती] पृ० २, अमो० ३०

हां, 'क्वचित् नमो लोणं मत्थमावृणं इति पाठः'—के मंदर्म में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि- 'लोण' का ग्रहण, गच्छ-गण आदि मात्र का ही ग्रहण न माना जाय, अर्थात् समस्त साधुओं का ग्रहण किया जाय—इस भाव से किया गया है । इसमें 'क्वचित्' का अर्थ भगवती में अन्यत्र स्थलों में ही लिया जायगा भगवती में नहीं ।

एक स्थान पर 'बभीनियी' का अर्थ ऋणभंदेव किया गया है । अनुमान होता है कि ऐसा अर्थ किसी प्रयोजन स्वाम की पूर्ति के लिए किया गया होगा । अन्यथा, निपि ना, निपि ही है उसे ऋणभंदेव के अर्थ में कैसे भी नहीं लिया जा सकता है । 'निपि' मृत्ति-मात्र है और उसे नमन करना मृत्तिपूजा का शांतक होता है शायद, इसी दोष के निवारण के लिए किसी में ऐसा अर्थ किया गया हो अस्तु, जो भी हो स्थल इस प्रकार है—

'यहां पर सूत्रकार में अधर स्थापनारूप निपि को नमस्कार नहीं करने हुए निपि बनाने वाले ऋणभंदेव स्वामी को नमस्कार किया है और भी वीर-निर्वाण पीछे ६८० वर्ष में पुस्तकारुत्त जान हुआ, इसमें निपि को नमस्कार करना नहीं मभवता है ।'

• विवाह पण्णत्ति [वही] पृ० ३ टिप्पण अमो० ३०

उक्त प्रसंग में यह तो स्पष्ट है कि पट्खडागम एवं आगम परम्परा में सभी जगह [भगवती के अतिरिक्त] जमोकार मंत्र की एकरूपता अधुण रही है—उसके रूप में कहीं भिन्नता नहीं है । अर्थात् आगम-परम्परा की दृष्टि से भगवती का पाठभेद मेल नहीं खाता । सम्भव है— विद्वानों ने उस पर विचार किया हो या 'जमो बभीण-लिबीण' पद मानने हुए और मूलमंत्र में 'लोण' पद न मानने हुए भी मूलमंत्र की अनादि एकरूपता पर अपनी महमति प्रकट की हो ।

स्मरण रहे कि उक्त सभी प्रसंग जमोकार मंत्र के 'अनादिन्व' की दिशा में प्रस्तुत किया गया है । स्वनत्ररूप में जैन-आगमों में वर्णित सभी मंत्रों का हम सम्मान करते हैं, चाहे वे (बीतराग मार्ग में) किसी गीति से—किन्हीं शब्दों और गठनों में बद्ध क्यों न किये गये हों । ब्राह्मी लिपि अनादि नहीं है इस सम्बन्ध में निम्न प्रसंग ही पर्याप्त है—

• लेह लिबीणिहाण, जिजेण बंभीणवाहिक्कदेण ॥

‘नेखनं नेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वान्निषि-विधानं तस्य जिनेन भगवता ऋषभस्वामिना ब्राह्म्या वक्षिण करेण प्रवक्षितमनाम्ब तदादिन आरभ्य वाच्यते ॥’
— अभि० राजे० द्वि० पृ० ११२६

निषिः पुनकाऽऽदौ अक्षरविन्यास मा अष्टादशप्रकाराणि श्रीमन्नाभेय-जिनेन स्वमुनाया ब्राह्मी नामिकायावक्षिता, ततो शास्त्रीनाम इत्यभिधीयते ॥’

— अभि० राजे० पचम पृ० १२८४

‘अष्टादशनिषि ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना ।’

त्रे० श० पृ० ४० १।२।६६३

उक्त तथ्यों में स्पष्ट है कि शास्त्री निषि का प्रादुर्भाव तीर्थंकर ऋषभदेव में हुआ जो उन्होंने अपनी पृथ्वी शास्त्री के माध्यम में ममार में किया। फिर ऋषभदेव युग की आदि में हुए, उन्हें भी अनादि नहीं माना जा सकता। एतावता यह टिप्पण भी मंत्र के अनादित्व की दिशा में निर्भूत बैठना है कि ब्राह्मी का अर्थ ऋषभदेव किया जाय। क्योंकि मंत्र के अनादित्व में ऋषभ अर्थ का विधान भी (ऋषभ के मास्त्रि के कारण) व्यर्थ है। यदि मंत्र अनादि है तो उसमें ऋषभ (व्यक्ति) को नमस्कार नहीं, और यदि ऋषभ को नमस्कार है तो मंत्र अनादि नहीं। अतः निष्कर्ष निकलना है कि मूलमंत्र-परमेश्वरी नमस्कारात्मक रूप है और बड़ी अनादि है। जैसा कि षट्क्षंडागम तथा अन्य आचार्यों में कहा गया है—

शमो अग्रिहंताण, शमो मिद्धाण शमो आर्याग्याण, शमो उयज्जसायाण, शमो लोणं मव्वामाहणं ॥’
षट्क्षंडागम मगलाचरणम्

‘घबला’ में पंच-परमेश्वरियों का स्वरूप इस भांति वर्णन किया गया है -

(१) अग्रिहंत (अग्रहंत)-- जिन्होंने नरक नियंत्र, कुमानुष और ग्रंथ इन पर्यायों में निवास करने में होने वाले ममस्त्र दुःखों के मूल कारण मोह और तदाधीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय चार कर्मरूपी शत्रुओं कर्मरूपी राज को नष्ट किया है वे अग्रिहंत होने हैं। देव अमुर और मनुष्यों के द्वारा सातिजय पूज्य होने में इन्हें अहंन् भी कहा जाता है। और भी—

‘णिद्ध-मोह-नरुणो विन्धिष्णाणाण-मायरुत्तिष्णा ।

णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा, बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥२३॥

दविय-मयण-प्पयावा निकाल-विमग्गि नीहि णयणेहि ।

दिट्ठ-मयलट्ठ-साग, मुदट्ठ-तिउग मुणि-व्वट्ठो ॥२४॥

निरयण-निमूलधारिण्य, मोहंघामुर-कवच-विद-हरा ।

मिद-मयनप्य-ख्या अग्रहंता दुष्णय-कयंता' ॥२५॥

(२) सिद्ध— जो पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृत्यकृत्य हैं, जिन्होंने अपने माध्य को मिट कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं, उन्हें मिट कहते हैं । (अग्रहनावस्था केवलज्ञानी की सकल—जगतीरी अवस्था है और मिट अजगती आत्मामात्र निराकार होते हैं और लोकाय— ऊर्ध्वभाग में विराजमान होते हैं) --

'निष्ठय विविहट्ट-कम्मा निहृवण-मिर-मेहरा विहृव-दुक्खा ।

मुर-मायर-मज्झ गया निग्गणा निच्च अट्ठगुणा' ॥२६॥

(३) आचार्य जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य, तप और वीर्य इन पांच आचार्यों को स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे माधुओं में आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

'सगह-णिगह-कुमन्तां मुत्तन्ध-विमारओ महिय-कित्ती ।

मारण-चारण-मारण-किरियुज्जुत्तां हु आट्ठगियो ॥'३१॥

(४) उपाध्याय जो माधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष मार्ग के इच्छुक जीनधरों मुनियों को उपदेष्टा देने है, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय कहते हैं—

'चोदम-मुव्व-महोयहिगम्म मिव-न्थिओ मिवन्धीण ।

मीनधराण वत्ता होट मुणी सो उवज्जायो ॥'३२॥

सर्वसाधु- जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं जो पांच महाशक्तों को धारण करते हैं, तीन गुणियों में मुक्त हैं, अठारह हजार जीन के भेदों को धारण करते हैं और चौगामी नाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे माधु परमेष्ठी होते हैं ।—

मीह-गय-बमर-मिय-पमु-मारदमूखहि-मदरिदु-मणी ।

खिदि-उरगवर-सरिमा परम-पय-बिमग्गया माह ॥'३३॥

भगवान पार्श्व के पंचमहाव्रत

दिगम्बर मान्यनानुसार, जैन आगमों की वर्तमान श्रृंखला, युग के आदि-नेता तीर्थंकर ऋषभदेव में अविच्छिन्न रूप में जुड़ी हुई है। ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मार्ग को सभी तीर्थंकरों ने समान रूप में प्रवर्तित किया है। इसके मुख्य कारण ये भी हैं कि -

- १—सभी तीर्थंकर सम-सर्वज्ञ थे अर्थात् सबका ज्ञान पूर्ण सद्गता का लिए था।
- २—सभी की देशना निरक्षरी थी।^१
- ३—सभी की सर्वज्ञावस्था की प्रवृत्ति मन के विकल्पों में रहित थी। उसमें शीनाधिक वाचन को स्थान [विकल्पों के अभाव में] नहीं था।

तीर्थंकरों ने साधुओं के मूलगुण २८, आचार्यों के ३६ और श्रावकों के व्रत १२ ही बतलाए। इन सबकी मध्या में और सभी के लक्षणों में कोई भेद नहीं किया। इसी प्रकार धर्म १०, पाप ५ और सजा ८ की मध्या और लक्षणों में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'भगवान पार्श्वनाथ ने चानुर्याम का उपदेश दिया', 'बीच के बार्डस तीर्थंकरों के समयों में भी चार ही महाव्रत थे'—आदि, उपयुक्त नहीं जँचना, और ऐसी घोषणाओं में कि 'तत्कालीन लोगों की बुद्धि तीव्र या मंद थी या वे सरस और कुटिलता के भेद का लिए हुए थे' आदि कारण बताना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक मैं समझता हूँ 'चानुर्याम' की मान्यता की स्पष्ट घोषणा ध्वेनाम्बर आगमों की है^२। इसी के अनुरूप समय के प्रसंग में दिगम्बरों में भी

१. 'महावीर' देह में भी विदेह थे उन्हीं की 'निरक्षरी' वाणी की अनुगृह्य वानावरण में है।

ममणमुत्त, भूमिका पृ० १६

'गणधर'—जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान को 'शब्दबद्ध' करते हैं।

— वही, पृ० शब्दकोष पृ० २६८।

ममणमुत्त—'यह एक सर्व सम्मन प्रानिनिधिक ग्रन्थ है।'—वही, भूमिका

२. 'चाउरजामो य जो धम्मो, जो इसो पक्खिकिण्ण'।

देवियो बद्धमाणेण पामेण य महामुणी ॥

—(उत्तरा० २३/१२)

पुम्मि उग्गुज्झाउ बक्कज्झाय पण्डिता।

मज्झिमा उग्गुज्झाउ तेण धम्मं दुहा कए ॥'—(उत्तराध्ययन, २३।२६)

एक उल्लेख पाया जाता है। दिगम्बरों की ओर से चानुर्याम की कई बार कई विद्वानों ने पृष्टि की है। जैसे—

१—‘पार्श्वनाथ ने चानुर्याम का उपदेश दिया था।’

२—‘चानुर्याम ऋषि धर्म के मस्थापक पार्श्वनाथ थे यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।’

३ ‘भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा मस्थापित चानुर्याम धर्म के आधार पर ही भगवान् महावीर ने पंच महाश्रतम्य निर्गम मार्ग की ‘स्थापना की।’ आदि

जहां तक मुझे स्मरण है—एन्दौर में प्रकाशित ‘तीर्थकर-मामिक’ के ‘रात्रेन्द्रमूर्ति-विशेषांक’ में भी दो विद्वानों के लेखों में ऐसी ही बातें दुहराई गई थी। इस समय मेरे समक्ष अक न होने से उद्धरण नहीं लिख पा रहा हूँ। यदि दि० विद्वानों की चानुर्याम मयधी बात को माना जाय—जैसा कि होना भी चाहिए तो निम्न प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१—दि० मान्यता में चानुर्याम स्वीकार करने पर माधुओं के २८ मूलगुणों की मक्या कैसे पूरी होगी? क्यों कि ब्रह्मचर्य अपरिग्रह में गभिन होने में महाश्रतों में एक कम करना पड़ेगा।

२—क्या कहीं माधुओं के मूलगुण २७ होने का उल्लेख है?

३ आचार्यों के मूलगुणों में ३६ के स्थान पर ३५ की ही मक्या रह जायगी (एक महाश्रत तो कम हो ही जायगा) पर ब्रह्मचर्य धर्म का अन्तर्भाव (महाश्रतों की भाँति) आकिचन्य में करना अनिवार्य हो जायगा। इस आपत्ति का निराकरण कैसे होगा?

४ क्या कहीं आचार्यों के मूलगुण ३५ होने का उल्लेख है?

५—क्या चानुर्याम और पंचमहाश्रत की विभिन्न मान्यताओं में तीर्थकरों की देशना को विशेष ध्वनि रूप या अनक्षरी मानने में बाधा उपस्थित न होगी?

६—क्या विभिन्न स्वभाव और विभिन्न बुद्धि के लोगों की अपेक्षा में हुई ध्वनि में मन का उपयोग न होगा?

७—क्या कहीं उन पापों की सख्या चार मानी गई है जिनके परिहार रूप चानुर्याम होते हैं? यदि बाईस तीर्थकरों ने चार पाप बनसाए हो तो

१. ‘बासीम निन्धयरा सामायिय सजम उबदिसति।

छेबुबठाबणिय पुण भयव उमहो य बीरो य ॥’ —(मूला० ७।५:३)

पुरिमा य पच्छिमा बिहु कम्पाकप्प ण जाणति ॥’ —(मूला० ७।५:३५)

२. ‘बुक्तिमडुचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।’

उल्लेख इतना चाहिए। शायद कही कुशील को परिग्रह में समिलित कर दिया हो ?

८—संज्ञायें चार के स्थान में कही तीन बनलाई है क्या ? यन् मैथुन परिग्रह में अन्तर्भूत हो जायगा।

९—महावीर ने दीक्षा के समय चानुर्याम धारण किए या पचमहाव्रत ? यदि पचमहाव्रत धारण किए तो वे २० तीर्थंकरों की परम्परा में कैसे माने जायेंगे ? यदि चानुर्याम में दीक्षा ली है तो आदि के तीर्थंकर की धर्म परम्परा में कैसे माने जायेंगे ?

१०—क्या कही १० धर्मों के स्थान पर, ब्रह्मचर्य को आश्रित्य में गभित किया गया है और धर्मों की संख्या ६ बनलाई गई है ?

११—'स्त्री का परिग्रह में गिनाया गया है या नहीं ? यदि गिनाया गया है तो संख्या के परिमाण की दृष्टि में अथवा भाग की दृष्टि में ?

इसी प्रकार के अन्य भी वृत्त में प्रश्न उपस्थित हो जायेंगे। ऐसे प्रश्नों के निराकरण के अभाव में समस्त आगम ही ग्राह्य (मदाय) हो जायेंगे। अतः विद्वानों में मेरा निवेदन है कि वे पुनर्विचार करें। भंगी बुद्धि में तो ऐसा है कि सभी तीर्थंकरों के उपदेश समान रहते हैं। कही किञ्चित् भी अन्तर नहीं आया है। जो भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह सब आचार्यों की देन है जो उन्होंने समय-समय पर लोगों की दृष्टि में किया है।

यदि हम श्वेताम्बर परंपराओं के उल्लेखों पर विचार करें तो हमें बड़ा ऐसा उल्लेख भी मिलते हैं जिनमें यह सिद्ध होता है कि पार्श्व में पूर्व भी पचमहाव्रतों का चलन रहता रहा है। आचार्य हेमचन्द्र जी पार्श्वनाथ द्वारा दिए उपदेश को जिस भाति बनाने हैं उसमें ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में गभित नहीं माना जा सकता। अर्थात् पार्श्वनाथ द्वारा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक किया गया हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। यथा

‘मर्द्धिधा सर्ववर्गिनं दर्शयिष्ये भेदन ।’

संयमादि दशविधो, अनगाराणां च आदिम ॥’

(त्रि० ग० पु० च० पर्व ६, सर्ग ३)

यह पार्श्वनाथ का उपदेश है। उसमें मुनिधर्म, संयम आदि के रूप में दश प्रकार का बतलाया है। ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव अपरिग्रह में नहीं किया गया।

१. ‘क्षेत्रं बन्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पादम् ।’

बाह्यानां गोमहिषं मणिमुक्तादीनां चेतनाचिंतनानाम् ॥’—

यदि तीर्थंकर को दोनों में से एक ही रखना इष्ट होता है तो वे दोनों में दम के स्थान पर नौ का ही विधान करने । आगमों में जो समय कहे हैं वे हैं —

‘मत्नी य महव अज्जव, मुत्ती नव सज्जे य बोधव्वे ।

मव्व मोय आकिच्चन च वध च जड धम्मो ॥’

- (२) पार्श्व में पूर्व तीर्थंकर नेमिनाथ ने वरदत्त को जो उपदेश दिया है उसमें भी पंच महाव्रतों की पुष्टि होती है । उन्होंने ‘सावद्य योगविरति’ को चारित्र्य कहा । और अवधो (पापों) की मक्या मदा पाच रही है अतः पाच पापों की पृथक्-विरति पंचमहाव्रतों को ही मिश्र कर सकती है । ज्योंकि इस प्रकार है -

सावद्य यागविरतिश्चारित्र्य मुक्तिकारणम् ।

मर्यामना यतीन्द्राणा देशन म्यादगाग्निगाम् ॥

—(त्रि० श० पु० च० पर्व ८ सर्ग ६)

- (३) दीक्षा ग्रहण करने समय तीर्थंकर पाचों पापों के सर्वथा त्याग की घोषणा करने हैं । परिग्रह गृहिन अग्रह्य जैसे चार के त्याग की घोषणा नहीं करने और न कहीं पापों की चार मक्या का विधान ही किया गया है । तीर्थंकरों की धारणा है

‘मव्व मे अकरणिज्ज पाव कम्म ।’

- (४) मुनिनाथ के जीव ने पुरुषमिह राजा रूप पूर्वपर्याय में विनयनदन आचार्य में पाच महाव्रतों का उपदेश सुना— ‘मीलमइयो उण धम्मो पचमहव्वय पग्गिपालण म्मि महव-अज्जव मनोमच्चित्तिधरीकरण...’।

...चउपपण महापुरुष चरिय पृ० ७३

- (५) तीर्थंकर मुनिनाथ के उपदेश में त्रेमठ शलाका पुरुष चरित्र में पापों की मक्या ५ है अतः फलित होता है कि पापपरिहार रूप महाव्रत भी ५ ही रहे हैं -

‘हिमान्तम्येयाज्जह्ममहारम्भपरिग्रहा ।’—१००,

—त्रि० श० पु० च० पर्व ३ सर्ग ७ पृ० ६३

- (६) तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय में ब्रह्मचर्य की गणना स्वतन्त्र रूप से होती रही है—अपरिग्रह में नहीं, ऐसे भी प्रमाण मौजूद हैं । उस समय भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात (मुनि अवस्था में) पृथक् रूप से निर्दिष्ट होती रही है । विवाह के प्रसंग में (जब नेमिनाथ राजकुल में विवाह नहीं करना चाहते तब राजचरणों की) अन्य रानिया नेमिनाथ से कहती है—

'समये प्रतिपद्येथा ब्रह्मापि यथारुचि ।

नाहंम्ये नोचितं ब्रह्म, मन्त्रोद्गार इवाङ्गुली ॥'

—(त्रि० म० पु० च० पर्व ८।१०५ हैमचन्द्राचार्य)

- (७) तीर्थंकर नेमिनाथ की एक भविष्यवाणी में भी ब्रह्मचर्य की बात स्पष्ट है और अपरिग्रह में उसे नहीं जोड़ा गया है। इसमें भी जान होता है कि ब्रह्मचर्य पृथक् रूप में स्वतन्त्र रूप में माना जाता रहा है -

'पुंग नमिजिनेनोवन नेमिगहेन् भविष्यति ।

कुमार एव सन्नेव, नाथो राज्यश्रियाय तन् ॥३५॥

प्रतीक्षमाण समय जन्मतो ब्रह्मचार्यवन् ।

अदाम्यते परिश्रज्या मान्यथा कृष्ण चिन्तय ॥३६॥

उक्त आकाशवाणी है, जो अरिष्टनेमि के मन्त्र में २१वें तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा कभी (पहिले) की गई भविष्यवाणी को इंगित करती है। इसमें स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य की महिमा २१वें तीर्थंकर के समय में भी पृथक् रूप में गाई जाती रही है, अपरिग्रह गंधित रूप में नहीं।

- (८) भगवान् पाश्वन्नाथ में पहिले के तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने थावर्चापुत्र को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और उन्हें १००० शिष्यापरिग्रह वाला ब्राह्मण विहार की आज्ञा दी। थावर्चापुत्र अपने शिष्यों के साथ विहार करने-करने मोहिन्दिका नगरी में पहुँचे। उस नगरी में मुद्गन्त नामक भेट रहता था। उस भेट ने पहिले कभी किसी 'शुक' नामक मन्थारी में मातृमन का उपदेश सुना था और वह मातृमन का भ्रष्टाणी हो गया था। जब वह उनके पास गया। थावर्चापुत्र को देखकर मुद्गन्त भेट ने पूछा कि आपका धर्म क्या है? तब थावर्चापुत्र ने धर्मोपदेश में 'पञ्चमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश किया। यदि बीच के तीर्थंकरों के समय में चानुर्याम ही थे तो बाईसवें तीर्थंकर के माथान् शिष्य ने पञ्चमहाव्रतों का धर्म क्या कहा? वे चानुर्याम रूप में ही उनका ध्येयान करने। इसका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि पञ्चमहाव्रतों का पूर्व सभी तीर्थंकरों के समय में एक जैसा चलन ही रहा है। प्रसंग का मूल इस भाति है—

'तत्तेन थावर्चापुने अणगारे अरुहो अरिष्टनेमिम् नहाम्ब्राण धरण
अनि सामादयमादयार चादमपुष्पाद अहिज्जनि बह्महि जाव चउत्थ
बिहरति ॥२६॥

'तत्तेन अरुहा अरिष्टनेमी थावर्चापुतस्त अणमारस्त त इमादय

अणगार महम्म गीगताण दलर्यान ॥३०॥ — [ज्ञानाधर्मकथा, मेनगगजवि-

अध्ययन ५, पृ० ८८८ श्री अमोलक ऋषि, मिकद्रावाद प्रकाशन]

मुद्रमन का धावक्चापुन मे प्रमोत्तर—

'मुद्राण कि दूनय धम्म पणने ? तत्तेण धावक्चापुने मुद्रमणेण एव पुने ममाणे मुद्रमण वयायी -- मुद्रमणा विणयमूले धम्म पणत्ते । मैत्रिय विणा दुबिहे पणने त जहा— आगार विणाय अणगार विणाय तत्थण जे से आगार विणा मेवय पच अणुव्वयाइ मत्त मिक्खायाइ, एक्कारस उवामग पडिमाआत्तो । तत्थण जे मे अणगार विणा मेण पच महव्वयाई त जहा— मव्वाओ पाणाइवायाओ वेग्मण, मव्वा ओ मुगावायाओ वेग्मण, मव्वाओ मेहुणाओ वेग्मण, मव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेग्मण, मव्वाओ मेहुणाओ वेग्मण, मव्वाओ परिग्गहाओ वेग्मण.....॥८६॥

—(वही पृ० २५०)

(६) यद्यपि अभिधान राजेन्द्रकाण्ड में जहाँ परिग्रहो (बाह्य परिग्रहो) का संकेत है वहाँ उनमें 'द्विपद' का उल्लेख है— स्पष्ट रूप में स्त्री का उल्लेख नहीं है यथा - 'धन धान्य क्षेत्र बाल्यु रूप्य मुवर्णं कुप्य 'द्विपद' चतुष्यवाण्च ।' तथापि यदि यथावच्छिन् स्त्री का द्विपद रूप परिग्रह माना जाता है तो वह मात्र मत्स्या-परिमाण की दृष्टि में ही माना जा सकता है । मिथुन मन्त्रधी भय या धर्म में सम्बन्धित नहीं माना जा सकता । यद् परिमाण का यात परिग्रहण परिमाण नामक श्रावक व्रत के अनीनारो का वर्णन करने वाला सूत्र में भी पूर्ण स्पष्ट हो जाती है । उस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमाणातिशय' पद लेकर 'मग्रह मयांदा' को ही दृष्टिगत किया है अभिधान राजेन्द्र काण्ड में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है 'णाणामणिकणगय्यण मज्झिहपरिमल' 'मपुनदार' परिजन दासीदाम.....।'

उक्त पद में आगे 'मपुनदार' शब्द का विवक्षित करने हुए कंषकार लिखते हैं 'मपुनदारा मुनयुक्तावन्ताणि ।' इसमें भी 'परिमाण' को ही बल मिलता है । जैसे किसी न एक दासी या दास का परिमाण रक्खा तो वह उसके परिमाण में रहने के लिए 'मुनयुक्त दासी' को नहीं रख सकता । क्योंकि यदि वह रहेगा तो उसकी एक मत्स्यारूपपरिमाण में दोष आ जायगा । यत्त दासी के साथ रहने के कारण उसका पुत्र भी दास कार्य में सहायक सिद्ध होगा और स्त्री के व्रत-भंग का कारण होगा ।

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि जिस भाव में ब्रह्मचर्य है वह भाव अपरिग्रह से अछूता है अतः एक में दूसरे का समावेश नहीं हो सकता । हाँ, यदि जीवतान

करके समावेश माना हो जाय तो चोगी जादि पाप भी परिग्रह में गति किए जा सकते हैं अथवा एक अहिंसा महाव्रत में भी सभी इन समाहित हो सकते हैं। पर, ऐसा किया नहीं गया। सभी महाव्रत आदिनाथ युग में महावीर युग तक चलते रहे हैं। अतः चातुर्याम धर्म पार्श्व का है ऐसा कथन निम्न बैठना है।

चउप्यण महापुग्गि चरित्तं मे पाचवे नोदंकर गुमतिनाथ के पूर्वज का वर्णन करते हुए लिखा है पुग्गि मिह राजा न विनयनदन आचार्य से धर्मश्रवण किया—

‘सौलमइओ उणवम्मो पत्तमरुव्वय पग्गिअण’ - पृ० ७८

त्रिपट्टिजलाका पुरुष चरित्त, पत्रं ३ मयं ३ पृष्ठ ६६ का एक उद्धरण है—

‘महाव्रतधरा धीरा भक्षमात्रोपजीविन ।

सामायिकस्था धर्मोपदेणका गुरुबो मना ॥८६॥

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सर्वाग्रहः ।

अब्रह्मचारिणो मिथ्यापदेणः गुरुबो न तु ॥८७॥

इसमें गुरु (मुनि) के लक्षण का निर्देश ‘और यह निर्देश गोपकर अजिननाथ के समय का है। इसमें विपुला नामा गणिनी शृद्धभद्र की पत्नी मुलअणा को गुरु की पहिचान बनाने का कर्त्तव्य है कि गुरु को सामायिक चारित्री, महाव्रती, भिक्षोपजीवी और धर्मोपदेणका होना चाहिए। जो इसके विपरीत सर्वाभिलाषी, सर्वभोजी, सर्वाग्रही, अब्रह्मचारी व मिथ्यापदेणदानी है वे गुरु नहीं है।

इसमें ध्वनिन होता है कि यदि बीच के २० सौर्यकालों के समय में ‘चातुर्याम’ ही होने तो उनके ज्ञान में परिग्रह और अब्रह्म दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश न होता अपितु मात्र ‘सर्वाग्रह’ का ही समावेश होता।

‘अभिधान गजेन्द्र’ में एक उद्धरण है ‘न जहा - मत्थाओ पाणाउवायाओ वेग्गमण, एवं मुयावायाओ, आदिन्नादाणाओ, मत्थाओ, बहिहावाणाओ वेग्गमण’—आदि १० भाग ३ पृ० ११६८ ठाणा ८ सूत्र १३६)

टीका—‘(बहिहावाणाओनि) बहिहा मेषुनं, परिग्रह विजेष. आदान च परिग्रहः—नयोद्वन्द्वकम्बम्—इह च मेषुन परिग्रहेज्जमंभवि, न ह्यपरिगृहीता योचिन् भुज्यन् इति ।’

—वही...टीका २; स्थानाग पृ० २०२, भगवती सूत्र मतक १ उद्दे ६ पृ० २०६ उक्त उद्धरण में चातुर्याम में से अन्तिम याम को ‘बहिहावाणविरमण’

नाम से कहा गया है और टीका में बहिष्ठा का अर्थ मैथुन और आदान का अर्थ परिग्रह किया गया है। दोनों में द्वन्द्व समान करके उन्हें एक बना दिया गया है।

विचारणीय यह है कि द्वन्द्वसमाम में जब 'समम्न' दोनों पद उपस्थित हो जब कोई पद अपने मुख्यार्थ की मत्ता का अपने में पृथक् छाड़ देना है क्या ? जबकि एक शेष-द्वन्द्व समाम में (जहाँ एक पद का अस्मिन्त्व संबंधा लुप्त हो जाता है) भी लुप्त पद का अर्थ पृथक् रूपसे स्पष्ट रहता है। यथा—माता च पिता च पितरो। इसमें मातृपद संबंधा लुप्त है पर उसका अर्थ पृथक् रूप से कदापि लुप्त नहीं माना गया—वह पृथक् ध्वनि होता है। फिर 'बहिष्ठादाण' में तो समाम होने पर दोनों ही पद मौजूद हैं एनाबना दोनों का ही अस्मिन्त्व सिद्ध होता है।

एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि—यदि 'आदान' का अर्थ परिग्रह है तो उसकी पूर्ति तो 'आदिन्नादाणाओं' में गृहीत 'आदान' शब्द में हो जानी है ऐसे में 'समिद्धा विरमण' ही पर्याप्त था या अदिन्नादाणाओं के स्थान में 'आदिन्नाविरमण' ही पर्याप्त था। उक्त स्थिति में तो यही फलित होता है कि व्याकरण के नियमानुसार आदान शब्द के दोनों प्रयोगों में, एक प्रयोग व्यर्थ है और व्यर्थ रह कर वह जापन करा रहा है कि (व्याकरण में शब्द व्यर्थ में प्रयुक्त नहीं होते) पांचों यामों का ही अस्मिन्त्व रहा है—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनों ही स्वतन्त्र अस्मिन्त्व लिए हुए हैं।

दूसरी टीका में एक स्पष्टीकरण यह भी दिया गया है कि अपरिगृहीता योषिण् भागी नहीं जानी—मैथुन परिगृहीता में ही शक्य है इसलिए बहिष्ठा के साथ आदान—(परिगृहीत) का समावेश है। लेकिन यह बिषय भी आगम बाध है यत् उमास्वानि स्वामी ने जहाँ ब्रह्मचर्य के दोषों को गिनाया है वहाँ स्पष्ट लिखा है—'परिगृहीतापरिगृहीतागमन' अर्थात् दोनों (परिगृहीता और अपरिगृहीता) के ही सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट घोषणा है कि दोनों ही दोष के भागी होंगे—यदि अपरिगृहीता में दोष की संभावना ही न होनी तो वे उसका ग्रहण न करेंगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपरिगृहीता में मैथुन शक्य नहीं' यह भ्रम ही 'ब्रह्मचर्य-वाम' को गीण या लुप्त करने में कारण रहा है। यत्—क्योंकि मुनि संबंधा स्त्री रहित होता है, उसके परिगृहीता मानी ही नहीं गई तो वह स्वभाव से (परिगृहीता रहित होने से) ब्रह्मचारी ही सिद्ध हुआ—अतः उसके लिए इस वाम की आवश्यकता प्रसिद्ध नहीं की जाती रही और

चार-याम प्रसिद्ध कर दिए गए। और श्रावक के लिए (उनके गृहस्थ -- परिगृहीता सहित होने के कारण) इस नियम का विधान जारी रक्खा गया ताकि वह इसमें सावधान रहता हुआ समय का (यथाशक्ति) पालन कर सके। इसीलिए दो प्रकार के भेद माने गए-- याम चार और अणुव्रत पाँच। अन्यथा दोनों ही ४-४ या ५-५ होने चाहिए थे।

एक प्रश्न यह भी महत्व का है कि —

‘पुरिमा उज्जुज्झाओ, वक्कज्झाड पण्ठिमा।

मज्झिमा उज्जुपण्णाउ तेण धम्मो दुहा काण ॥’

आदि की स्थिति यामों पर ही क्यों मानी जाय ? क्यों न अणुव्रतों को भी चार ही माना जाय। क्या उक्त स्थिति का प्रभाव मुनियों पर ही पड़ा ? या उन दिनों सभी श्रावक ऋजु-जड थे और सभी मुनि ऋजु-प्रज्ञ ? ऐसा तो सर्वथा अमम्भव है कि ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम सब मुनियों का एक-सा हो और सब श्रावकों का एक-सा ? हममें तो कर्म के उदय, उपशम और क्षयोपशम आदि का सिद्धान्त ही खटाई में पड़ जायगा। फिर एक मध्य यह भी है—

एक धारा में यामों की मर्यादा तीन भी मिलती है। यथा—

‘जामा, निर्णिण उदाहया, जेमु दमे आरिया मबुज्झमाणा समुट्ठया।’

- आचारान् ८।१।६

भाषा— ‘भगवन् ने महाव्रत के मुख्य तीन भेद कहे हैं—अहिंसा सत्य और निर्ममत्व। क्योंकि ये तीनों ममत्व-भाव में जाते हैं। इसमें आर्यपुरुष ममत्व के सावधान होते हैं। ‘टिप्पण—चोरी, मधुन व परिग्रह ये तीनों निर्ममत्व में अजाते हैं।’

—वही, अमोलक ऋषिजी

बहुत में व्याख्याता जो याम का अर्थ अवस्था करने हैं उन्हें उक्त प्रसंग पर श्री शीलाकाचार्य की टीका देखनी चाहिए। यथाहि—

‘यामा’ व्रत विशेषाः त्रय उदाहृता, तद्यथा—

प्राणानिपातो मृषावाद परिग्रहश्चेति ; अदनादान—

मधुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावान् त्रय ग्रहणम्।’—

इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि ये तीन याम किन तीर्थकरों के बनलाए और किनके समय में प्रचलित थे। इस ऊपर के प्रसंग में स्पष्ट है कि याम सदा पाँच ही रहे—पर लोगों के कथन में (न्यूनाधिक की अपेक्षा में) संख्या भेद रहा। सामान्यतः याम एक भी हो सकता है और विशेषतः २ से ५ तक हो सकते हैं।

आवश्यक सूत्र में कथन आता है कि बार्दम तीर्थंकर संयम का उपदेश देते हैं—

‘बाबोम निन्धयरा मामाडय मजम उवइमंति ।’—यही कथन आचार्य हरिभद्रनिबुक्ति में (गाथा १२८६) मिलता है। दीक्षा के प्रसंग में सभी जीव इस सामायिक चार्ग्न को धारण करने गहे हैं और सामायिक सावद्य योग के परिग्रह्य में होता है—‘मामाडय नाम, मावज्जजोगपरिवज्जणं ।’—इस प्रकार सभी जीव पापों पापों का त्याग करते हैं या अब्रह्ममिश्रितपरिग्रह रूप चार पापों का ? यह भी एक प्रश्न खड़ा रहता है।

अभिधान राजेन्द्र कोष में एक उद्धरण है कि—

‘मावद्यकर्ममुक्तस्य, दुध्यानरहितस्य च ।

ममभावां मुहूर्तं तन् व्रत सामायिकाह्वयम् ॥

—पृ० ३०३ (भाग मातवां)

इसी में दुध्यान का स्पष्टीकरण करते हुए कोषकार ने लिखा है कि—‘दुध्यान—आतंगोद्वरूप तेन रहितस्य प्राणिनः ।’ इसमें प्रश्न होता है कि गोद्वरूप तो ५ है—हिमानदी, मृषानन्दी, चीरानन्दी, अब्रह्मानदी और परिग्रहानदी। क्या माधु (दीक्षा के समय) चार दुध्यानों को छोड़ता है या उमकी दृष्टि में पापों ही दुध्यान होते हैं ? ‘चानुर्याम’ के हिमाव में तो दुध्यान भी चार ही होंगे—जैसा कि कही कथन नहीं है।

श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक में प्रथम अध्याय के मानवे सूत्र की व्याख्या में आया “चानुर्याम भेदान्” पद भी विचारणीय है कि इसका समावेश कब और कैसे हुआ। हो सकता है बाद के विद्वानों ने (चानुर्याम धर्म पार्श्वनाथ का है ऐसी धारणा में) मूल पद मशोधन की चेष्टा की हो अन्यथा, प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिलिपियों में तो ऐसा मिथ्य नहीं होता। व्यावर, श्रवणबेलगोला और मूडवित्री की ताडपत्रीय प्रतियों में ‘चानुर्यमभेदान्’ के स्थान में ‘चानुर्यमि भेदान्’ पाठ है।

अब आती है केशी-गीतम सवाद की बात। सो, यह विचारणीय है कि वे केशी पार्श्व परंपरा के वे ही केशी हैं जिन्होंने प्रदेशी राजा को संबोध दिया था या अन्य कोई केशी हैं ? वे केशी चार ज्ञान के धारक थे और पार्श्व की शिष्य परम्परा के पट्धर आचार्य थे। उन्होंने गीतम से प्रश्न किया हो यह बात जैसी नहीं। यतः सवाद के (कथित) समय तक गीतम और केशी दोनों समान ज्ञान धारक ही सिद्ध हो सकते हैं।

केशी के ज्ञान के सम्बन्ध में रायपसेणी में लिखा है—‘इच्चेए च पदेशी अहं तव “अडब्बिहेण नाणेण” इमेयारुबं अब्बत्तिबं जाव सनुप्पसं जाणामि ।” भगवती सूत्र से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

इस सम्बन्ध में पाठको के विचारार्थ अधिक कुछ न लिखकर यहाँ एक उद्धरण मात्र दिया जाना ही उपयुक्त है—

‘भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी भ्रमण हुए जो बड़े ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति श्रुत एवं अवधि-ज्ञान के धारक थे ।……पार्श्व सवत् १६६ से २५० तक आपका कार्यकाल बताया गया है । आपने ही अपने उपदेश में श्वेताम्बिका के महाराज ‘प्रदेशी’ को चोर नात्मिक में परम आत्मिक बनाया ।……आचार्य कुम्भिकुमार पार्श्व-निर्वाण सवत् ११६ से २५० तक अर्थात् ८४ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और अन्त में ‘‘मुक्त हुए ।’ इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षों में मुक्त हुए ।……इस सम्बन्ध में वाचस्पतिक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशी और गौतम गणधर के साथ सवाद करने वाले केशीकुमार भ्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में दो केशी भ्रमण हुए हैं ।’

‘आचार्य केशी जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गए हैं उनका काल ‘उपकेणगच्छ पट्टावली’ के अनुसार पार्श्वनिर्वाण सवत् १६६ से २५० तक का है । यह काल भगवान् महावीर की छपम्यावस्था तक का ही हो सकता है । इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूमेरे केशीकुमार भ्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है । इस प्रकार प्रथम केशी भ्रमण का काल महावीर के छपम्यकाल तक का ‘‘ठहरना है ।’

‘इसके अनिश्चित रायपमेणी सूत्र में प्रदेशी प्रतिबोधक केशीभ्रमण को ‘‘चार ज्ञान का धारक’’ बनाया गया है । केशी ने स्वयं कहा है—‘‘मैं मति श्रुत अवधि, और मनःपर्ययज्ञान में सम्पन्न हूँ’’।—राज प्र० १६०-१६५; जैन साहि० इति० भा० २ पृ० ५३-५८ । तथा जिन केशी भ्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में सवाद हुआ, उनको उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है [केशीकुमार समणे, विज्जाचरणपारणे ओहिनाणमुग उत्तरा, अ० २३] ।

ऐसी दशा में प्रदेशी प्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशी भ्रमण जो महावीर के छपम्य काल में ही हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बाद तीन ज्ञान के धारक रूप में गौतम के साथ मिलना किसी तरह मुक्ति-संगत और सम्यक् प्रतीत नहीं होता ।’

—जैनधर्म का मौलिक इतिहास आ० हस्तीमल जी महाराज । पृ० ३२८-३१ ।

अज्ञान जन्तु ने बुद्ध को बनलाया कि वह स्वयं निगठनाथपुत्त (महावीर) में मिले और महावीर ने उनमें कहा कि—निर्गन्ध 'चातुर्याम सवर संबृत' होता है। अर्थात् वह (१) जल के व्यवहार का वारण करता है, (२) सभी पापों का वारण करता है, (३) सभी पापों का वारण करने से धुनपाप होता है, (४) सभी पापों का वारण करने में लगा रहता है। अतः वस्तुस्थिति यह भी हो सकती है कि चातुर्यामसवर के स्थान में लोगों ने 'सवर' शब्द छोड़ दिया हो और कालान्तर में 'चातुर्याम' से अहिंसा आदि को जोड़ दिया हो। अन्यथा 'चातुर्यामसवर' के स्थान पर 'चतु सवर' ही पर्याप्त था। 'याम' का कोई प्रयोजन ही नहीं दिखाई देता। अतः फलित होना है कि ऊपर कहे गए 'चातुर्याम-सवर' के अतिरिक्त अन्य कोई चातुर्याम नहीं थे।

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रसंगों में चार की संख्या उपलब्ध होती है। कई में तो [कथित-प्रसिद्ध किए गए] चार यामों में पूरी-पूरी समता भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे 'चार कर्मक्लेश' 'चार पाराजिक' और चार आराम पमन्दी इत्यादि।

(१) चार कर्मक्लेश - इनका वर्णन 'दीर्घनिकाय' के भिम्भोगवादि सुत्त ३।८ में किया गया है। वहाँ चारों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं—१. प्राणि-मारना, २. अदत्तादान, ३. झूठ बोलना, ४. काम।

(४) चार पाराजिक - इनका वर्णन 'विनयपिटक' में इस प्रकार है—१. हत्या, २. चोरी, ३. दिव्यशक्ति (अविद्यमान) का दावा, ४. मैथुन।

(३) चार आराम पमन्दी - इनका वर्णन 'दीर्घनिकाय' पामादि सुत्त में है—भ० बुद्ध कहते हैं कि—१. कोई मूर्ख, जीवों का वध करके आनन्दित होता है, २. कोई झूठ बोलकर आनन्दित होता है, ३. कोई चोरी करके आनन्दित होता है, ४. कोई पाच भोगों से सेवित होकर आनन्दित होता है। ये चार आराम पमन्दी निकृष्ट हैं।

उक्त सभी प्रसंग चातुर्याम से पूर्ण में खाते हैं और यह मानने को बाध्य करते हैं कि पार्ष्वनाथ के पांच महाव्रतों में से बुद्ध ने चार ग्रहण किए हो—या उनमें मकोच कर उन्हें चातुर्यामसवर का रूप दिया हो या जैन ग्रन्थों में जहाँ चार की संख्या आई हो—वह लोक-प्रचार से प्रभावित हो—ऐसा भी हो सकता है। पाठक विचारे !

पर्युषण और दशलक्षणधर्म

जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है। दश पर्व को सभी अपने-अपने ढंग में मोत्साह मनाने हैं। व्यवहार में दिगम्बर श्रावकों में यह दस दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगों में धर्म का वर्ण करने में दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अप्टान्हिका (अट्ठाई) कहते हैं।

पर्युषण के अर्थ का खुलासा करते हुए राजेन्द्र कोप में कहा है

“परीति सर्वत्र क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्या मा पर्युषणमना” अथवा “परि. सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यत मत्पदिनानि उन्कृष्टत पणमामान् (?) यमन निरुक्तादेव पर्युषणा।” अथवा परिमाममन्येन उपणा।” अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमें क्रोधादि भावों को सर्वत्र उपशमन किया जाता है अथवा जिसमें जघन्य रूप में ७० दिन और उन्कृष्ट रूप में छह मास (?) एक क्षेत्र में किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप में वाम करने का नाम पर्युषण है।

पञ्जोमवण, पखिमणा पत्रुमणा, वामावामो य (नि० सू० १०) में मवणञ्ज एकार्यवाची है।

पर्युषण (पर्युषणमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते हैं (१) जिसमें क्रोधादि भावों का सर्वत्र उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमें जघन्य रूप में ७० दिन और उन्कृष्ट रूप में चार मास पर्यन्त एक स्थान में वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण में जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का मन्त्र अर्धरूप में मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है, कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्युषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ में माधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की सच्ची अवधि तक एकत्र वाम कर धर्म माधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नहीं। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नहीं है। अनिवार्यता का अभाव होने के कारण ही श्रावकों में दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते हैं और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परायें ऐसा मानती हैं कि उत्कृष्ट पर्युषण चार मास का होना है। इन्हीं हेतु इन्हीं चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनों ही सम्प्रदाय के माघ चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओं को करते हैं। यन-उन दिनों (वर्षा ऋतु) में जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिमादि दोष की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिमादि पाप सर्वथा बर्ज्य है।—उमें महावनी कहा गया है।

“पञ्चमवणा कल्प का वर्षेन दोनो सम्प्रदायो मे है। दिगम्बरों के भगवनी आराधना (मूला राधना) में लिखा है—

“पञ्चमवणकल्पो नाम वणम् । वर्षाकालस्य चतुर्भुजानामेव एकत्रावस्थानं ध्रमण त्याग । विन्यधिक दिवमगत एकत्रावस्थानमित्यवमुत्सर्ग कारणापेक्षया नु हीनाधिक बाजवस्थानम् ।

पञ्चमवण नामक दसवा कल्प है। वर्षाकाल के चार मासों में एकत्र ठहरना—अन्यत्र ध्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्तम मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकाते हैं। भगवनी आरा० (मूला रा०) आश्वाम ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरों में ‘पर्युषणाकल्प’ के प्रसंग में जीनकल्प सूत्र में लिखा है—

‘चाउम्भामुक्कोमे, मत्तगि राइदिया जहण्णेण ।

ठिनमट्ठित्तगेमतते, कारणे वच्चासितणयरे ॥—

—जीन क० २०६५ पृ० १७६

विवरण —‘उत्कर्षत पर्युषणाकल्पश्चतुर्मास यावद्भवति, अषाढ पूर्णिमाया शानिकपूर्णिमा यावदित्यर्थ । जघन्यत पुन मपत्तिरात्रिदिनानि, भाद्रपदशुक्लपक्षभ्या शानिकपूर्णिमा यावदित्यर्थ - अशिवादी कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासित विपर्यस्तमपि कुर्युः ।’

—अभि० रा० भाग० ५ पृ० २५४

पर्युषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास (१२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पक्षमी से प्रारम्भ कर शानिक पूर्णिमा तक (मत्तर दिन) की है।—कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनो के सभी सम्प्रदायों में पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा में ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि ‘(१) दिगम्बर श्रावक इस पर्व को धर्मपर्व १० भेदों (उत्तम-क्षमा-मार्द-

वार्यन-शीत-सत्य संवत्-तपस्त्याग, अकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्म) की अपेक्षा मनाते हैं और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते हैं। जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते हैं। बहा इन दिनों में कहीं कल्पसूत्र की वाचना होती है और कहीं अन्तकृत सूत्रकुलाग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आग्निहक (अष्टान्हिक-अठाई) कहते हैं। साधुओं का पर्युषण तो चार मास ही है।

दिगम्बरो में उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी में प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरों में पचमी को पूर्ण होता है। दोनों सम्प्रदायों में दिनों का इतना अन्तर क्यों? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगों ने पारम्परिक मोहार्थ वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए हैं कि पर्युषण मनाने की तिथियाँ दोनों में एक ही हों। पर, वे असफल रहे हैं।

पर्युषण के प्रसंग में और सामान्यतः भी, जब हम तपः प्रोत्साहन आदि के लिए विविष्ट रूप में निश्चित निधियों पर विचार करने हैं तब हमें विशेष निर्देश मिलता है कि - -

“एष पर्वमु सर्वेषु चतुर्मास्या च हायने ।

जन्मन्यपि यथाशक्ति स्वस्य मत्कर्मणा कृति ॥

- धर्म म० ६६ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों में और जीवन में भी यथाशक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहरूप धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

“तत्र पर्वाणि चैवमुषु —

“अट्ठमि चउद्दमि पुण्णिमा य तथा मावसा हवइ पब्ब

मासमि पब्ब छक्क, निन्नि अ पब्बाई पक्खमि ॥”

“चउद्दमिचउद्दमि पुण्णिमासि सित्त सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीवेतु ज्ञान पंचम्यपि पर्वत्वेन विधृता । ‘अट्ठमी चउद्दमी’ नाण पचमीसु उवचाम न करेइ पण्डित्तमित्थादिबचनात् ।—एषु पर्वसु कृत्यानि यथा—पौषधकरणं प्रति पर्वं तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन । यथामम, —

‘सब्बेसु कासपब्बेसु, पसत्थो जिणमण, हवइ जांणो ।

अट्ठमि चउद्दमीसु अ नियमेण हवइ पोमहिओ ॥’

—धर्म म० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गए हैं—अष्टमी चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमा-वस्या, ये मास के ६ पर्व हैं और पक्ष के ३ पर्व हैं। इसमें ‘चउद्दमिचउद्दमि’

पुष्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ मे ज्ञान पचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। '...इन पर्वों के कृत्यों मे प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व मे उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम मे भी कहा है— 'जिनमन मे सर्व निश्चित पर्वों मे योग को प्रणम्य कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रांषध को नियमन करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरो मे देखते है तब ज्ञात होता है कि उनके पर्व पचमी से प्रारम्भ होकर (ग्लनत्रय सहित) मासान्त तक चलते है, और उनमे आगमविहित उक्त सर्व (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा) पर्व आ जाते है।, जब कि श्वेताम्बरो मे प्रचलित पर्व दिनों मे अष्टमी का दिन छूट जाता है— उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेष हवद् पामहिषां' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि पर्युषण काल मे अधिक मे अधिक प्रोषध की निषिद्धियों का समावेश रहे। यह समावेश और जैनियों के विभिन्न पन्थों की पूर्व निषिद्धियों मे एकरूपता भी, तभी सम्भव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी मे ही प्रारम्भ माने जायें।

बाल्यसूत्र के पर्युषण समाचारी मे लिखा है— 'ममणे भगव महावीरे वीमाण मवीमट्ठराण मामे वट्ठकत्ते वासावाम पज्जोमेवड।' इस 'पज्जोमेवड' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ मे 'पर्युषणामाकार्षीन्' किया है। अर्थात् 'पर्युषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम अंश मे श्री विजय-गर्ग ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखे पृष्ठ २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन है शिष्या ? एवमुच्यते, वर्षाणा विज्ञप्ति रात्रि-युक्ते मामे अनिवातने पर्युषणमकार्षीन्।' दूसरी ओर पर्युषणाकल्प सूत्र मे 'अन्नया पज्जोमवणादिवसे आगा अज्जकामणेण सालिवाहणे भणिओ भट्टवज्जुह्-पचमीए पज्जोमवणा'—(पज्जोमविज्जड) उल्लेख भी है।

—अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणों मे स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्युषणा करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पचमी था। इस प्रकार पचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पचमीए' पद की विभक्ति मे सन्देह की गुंजाइश रह जाती है कि पर्युषणा पचमी मे होती थी अथवा पचमी मे होनी थी। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पचमीए' रूप तीसरी पचमी और मातृदी तीनों ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पचमी में ही पर्युषण है तो पर्युषण को ७-८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता मिट जाती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हा, पचमी से पर्युषण हो तो आगे के दिनों में आठ या दस दिनों की गणना को पूरा किया जा सकता है और अष्टमी को प्रोषध भी किया जा सकता है। सम्भवत इमीलिंग कोपकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पचम्या अनतर' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ला पचम्या कान्तिक पूर्णिमा याचदित्यर्थ' पृ० २५४ में लिख दिया है। यहा पचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पचमीए' का अर्थ 'पचमी में' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पूर्व में अष्टमी के दिन का समावेश इमी गीति में शक्य है। अनन्तर' में तो मन्देह को स्थान ही नहीं रह जाता कि पचमी में पर्युषण शुरू होता है और पर्युषण के जघन्य काल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भाँति होती है।

दिगम्बर जैनो में कान्तिक फाल्गुन और आपाठ में अन्न के आठ दिनों में (अष्टमी में पूर्णमा) अष्टाह्निका पर्व माने है ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप में उन दिनों अकृत्रिम जिन मार्दरो में विम्बो के दर्शन-पूजन को जाते है। देवो के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरों में भी है। श्वेताम्बरों की अष्टाह्निका की पर्व तिथिया चैत्र सुदी ८ में १५ तक तथा आमोज सुदी ८ में १५ तक है। तीसरी तिथि जो (सम्भवत) भाद्र वदी १३ में सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ में प्रारम्भ क्यों नहीं? यह विचारणीय ही है- जब कि दो बार की तिथिया अष्टमी में शुरू है।

हो सकता है— तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्युषण मनाने में ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दि शुरू करने की बात है तब इस अष्टाह्निका को पचमी के पूर्व में शुरू न कर पचमी में ही शुरू करना युक्ति मगन है। ऐसा करने में 'महीमराग' माने वट्ठकने (बीतने पर) की बात भी रह जाती है और 'मन्तरिगाइदिया

१. मुनियों का वर्षावाम चतुर्मास लगन में लेकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् आपाठ शुक्ला १४ में लेकर भाद्रपद शुक्ला ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।

बहन्नेच' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पंचमी, अष्टमी चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका में समाविष्ट रह जाती हैं जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य हैं।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनों में पर्व सम्बन्धी तिथि काम का निश्चय सूर्योदय काम से ही करना आगम सम्मन है। जो लोग इनके विपरीत अन्य कोई प्रक्रिया अपनाते हों उन्हें भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

‘चाउम्माय अवशिमे, पक्खि अ पंचमीट्ठमीसु नायब्बा ।

नाओ निहीवी जामि, उदेइ मूरो न अण्णाउ ॥१॥

पूजा पच्चक्खाणं पडिकमणं तइय निअम महणं च ।

जीए उदेइ मूरो तीइ निहीए उ कायब्बं ॥२॥’

धर्म सं० पृ० २३६

वर्ष के चतुर्मास में चतुर्दशी पंचमी और अष्टमी को उन्ही दिनों में जानना चाहिए जिनमे सूर्योदय हो, अन्यप्रकार नहीं। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उमी तिथि में करना चाहिए जिनमें सूर्योदय हो।



अपदेशसत्तमज्ज्ञं

श्री 'समयसार' की १५वीं गाथा के तृतीय चरण के दो रूप मिलते हैं—(१) 'अपदेशमुत्तमज्ज्ञं' और (२) 'अपदेशमनमज्ज्ञं' । और इस पर संस्कृत टीकार्य भी दो आचार्यों की मिलनी है—श्री जयसेनाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्य की ।

आचार्य जयसेन की टीका के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समक्ष 'अपदेशमुत्तमज्ज्ञं' पद रहा और उन्होंने इसी पद को आश्रय कर टीका लिखी । टीका में पूरे पद को जिन शासन का विशेषण माना गया है और 'मुत्त' शब्द को दृष्टि में रख कर तदनुसार ही 'अपदेश' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बिठाया गया है । उक्त अर्थ 'मुत्त' शब्द के मन्दर्भ में पूरा-पूरा नहीं और विधिपूर्ण बैठ रहा है । कदाचित् यदि 'मन' शब्द किन्हीं प्रतियों में न होता तो पूरे पद के अर्थ में सम्भवनः अवश्य ही विवाद न उठता । आचार्य जयसेन अपनी टीका में लिखते हैं—

'अपदेशमुत्तमज्ज्ञं' अपदेशमूत्रमध्यं अपदिश्यतेऽर्थो येन स प्रकृत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतम् इति यावत् मूत्रं परिच्छित्तिरूप भावश्रुतं ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञान समयेन परिच्छेद्यमपदेशमूत्रमध्यं भाष्यत इति ।—

जिसमें पदार्थ गनाया।दर्शाया जाता है वह 'अपदेश' होता है अर्थात् शब्द । यानी द्रव्यश्रुत । 'मुत्त' का भाव है ज्ञान-समय अर्थात् भावश्रुत । ये भाव उक्त टीका से स्पष्ट फलित होता है । इन आचार्य ने 'मन' शब्द का अपनी टीका में कहीं कोई भी उल्लेख नहीं किया ।

जहां तक श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका का सम्बन्ध है, उन्होंने १५वीं गाथा को पूर्व प्रसंग में आई १८वीं गाथा के प्रकाश में देखा है । उनके समक्ष 'मुत्त', शब्द रहा प्रतीत नहीं होता अन्यथा कोई कारण नहीं कि वे टीका में उसे न छूने । उनकी दोनों गाथाओं की (दोनों की टीकाओं में) समता तो है ही साथ ही आत्मा और जिनशासन में अभेदमूलक भाव (गाथाओं के अनुरूप) भी है पर उन्होंने गाथा के तृतीय चरण को श्री जयसेनाचार्य की भांति, जिनवाणी का विशेषण नहीं बनाया और तृतीय चरण की टीका आत्मा का विशेषण बना कर ही लिखी । ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके समक्ष 'मुत्त' के स्थान

पर कोई ऐसा अन्य शब्द रहा होगा जो १४वीं गाथा में गृहीत आत्मा के सभी (पांचो) विशेषणों की संख्या पूर्ति करता हो। वह शब्द क्या हो सकता है ? क्या 'संत' 'मन' या 'मन' जैसा कोई अन्य शब्द भी हो सकता है ? यह विचारणीय है।

हमारे समक्ष १४वीं व १५वीं दोनों गाथायें और दोनों पर श्री अमृत-चन्द्राचार्य की टीकायें उपस्थित हैं—

गाथा १४—'जो पम्मदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णयणियदं।

अविममममजुत्त.....॥१४॥ ममयमार

टीका—'या ज्ञानु अबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्यावि-

शेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोजुभूतिः.....

मात्स्वनुभूतिरगमैव।'—

गाथा १५—'जो पम्मदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णमविममं।

अपदेममनमज्झ.....॥१५॥ ममयमार।

टीका—येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्या-

संयुक्तस्य चात्मनोजुभूतिः.....जिन-

शासनस्यानुभूति।'—

उक्त दोनों गाथायें और उनकी टीकायें आत्मानुभूति व जिनशासन अनुभूति (दोनों) में अभेदपन दर्शाने हैं अर्थात् जो आत्मानुभूति है वही जिनशासन अनुभूति है और जो जिनशासन की अनुभूति है वही आत्मानुभूति है।

प्रथम गाथा नम्बर १४ में आत्मा के पांच विशेषण हैं—(१) अबद्ध-स्पृष्ट (२) अनन्य (३) नियत (४) अविशेष और (५) असंयुक्त। दोनों गाथाओं की टीका के अनुसार ये पांचो ही विशेषण गाथा (मूल) १५ में भी बैठने चाहिए। स्पष्ट दृष्टि में देखने पर गाथा १५ में अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष ये तीन विशेषण स्पष्ट समझ में आ जाते हैं तथा 'नियत' और 'असंयुक्त' दो विशेषण दृष्टि से अंगमल रहते हैं—जबकि टीका में पांचो विशेषणों का उल्लेख है। पाठकों को ये ऐसी पहेली बन गए हैं जैसी पत्रिकाओं में प्रायः चित्रों के माध्यम से पहेलियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। जैसे—यहां इस चित्र में दो पुरुष, एक कुत्ता, एक चिड़िया छिपे हैं—उन्हें ढूँढो। उनके ढूँढने में जैसे दृष्टि और बुद्धि का व्यायाम होता है और वे तब कही मिल पाते हैं। इसी प्रकार गाथा के तृतीय चरण में ऐसा और ऐसे से भी अधिक व्यायाम किया जाय तब कही विशेषणों का भाव बुद्धि में फलित हो। पाठक विचारें कि कही ऐसा तो नहीं है ?

आचार्य कुन्दकुन्द मूल और आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं के अनुसार 'नियत' और 'असंयुक्त' विशेषण इस भाति ठीक बैठ जाते हैं—

(१) 'नियत' अर्थात् सभी भाति निश्चित, एकरूप, अचल, जो अपने स्थान—स्वरूप आदि में चल न हो, अन्य स्थान में जिसका सम्बन्ध ही न हो—अपने में ही हो—अर्थात् 'अपगता' (दूरीभूता) अन्ये देशा यस्मान् स अपदेशः तं अपदेश—नियतं आत्मानम् । अथवा देशेभ्यः (अन्य स्थानेभ्यः) अपगतः अपदेशः तं नियतं आत्मानम् । यह अर्थ टीका में आए नियत विशेषण को विधिवत् बिठा देता है और टीका की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है तथा यह मानने का अवसर भी नहीं आता कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने दूरीकी टीका छोड़ दी है ।

(२) दूसरा विशेषण है 'असंयुक्त' । असंयुक्त का भाव होना है मयोग रहित—एकाकी—मत्स्वरूप या स्वन्व में विद्यमान । जो स्व में होगा उगम संयोग कैसा ? अर्थात् मयोग नहीं ही होगा । जो मयोग में नहीं होगा उगम पर कैसा ? ये 'असंयुक्त' अर्थ 'मत्तमज्ज' (मन्त्रमध्य) में घटित हो जाता है । क्योंकि—मत्त (मत्स्व) का अर्थ 'चेतन' भी है और आत्मा चेतन ही है । 'चेतन' को चेतन के मध्य अर्थात् आत्मा को आत्मा के मध्य, जो देखता है वह जिनजामन को देखता है । 'पाडयमद् महण्णव' कोष में लिखा है मत्त [मत्स्व] प्राणी, जीव-चेतन । पृ० १०७६ । मस्कृत में मत्स्व का अर्थ जीव है ही । यदि 'मत्त' के स्थान पर 'मत्त' माना जाय तब भी 'अपदेशमत्तमज्ज' इस स्थिति में 'अपदेश + अत्त + मज्ज' खण्ड करके 'अत्त' शब्द में आत्मा अर्थ कर सकने है । आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं भी 'अत्त' शब्द आत्मा के लिए प्रयोग किया है । तथाहि—

'कत्ता तस्म्वओगम्म होट मो अत्तभावम्म' । ६४।

' " " " " " " । ६५।

'जाण अत्ता दु अत्ताण' ॥ ८३॥

—ममयमार

इस प्रकार सम्भावना है कि 'सत्त' शब्द का मूल रूप 'मत्त' या 'मत्त' ही रहा हो और जो यदा-कदा मकार के ऊपर बिन्दु ने बैठा हो या मकार का सकार हो गया हो—जैसा कि प्रायः लिपिकारों में हो जाता है । यह बात तो बिस्कुल ठीक है कि—'आचार्य अमृतचन्द्र जी की टीका देखने हुए, 'अपदेश...' पद का वही रूप होना चाहिए जो नियत और असंयुक्त विशेषणों की पुष्टि करता हो । 'सुत्त' शब्द भी विचारणीय है । कदाचित् इसका मस्कृत रूप 'स्वत्स्व' होता हो । क्योंकि 'स्वत्स्व' का अर्थ स्व-यत्-स्वरूप—आत्मा में होना है । मेरी दृष्टि में अभी 'स्वत्स्व' की प्राकृत 'सुत्त' देखने में नहीं आई । विद्वज्जन विचारें ।

एक वान और । आचार्य कुन्दकुन्द की यह पगिपाटी भी रही है कि वे एक ही गाथा को यदा-कदा अल्प परिवर्तनों के साथ दुहरा देते रहे हैं—गाथा में कुछ ही शब्द परिवर्तन करने रहे हैं । यहा भी यही वान हुई है—उदाहरणार्थ जैसे—

‘रायाम्ह य दोमाम्ह य कमायकम्मेसु चेव जे भावा ।
 तेहि दु परिणमनो रायाई बघादि पुणो बि ॥२८१॥’
 ‘रायाम्ह य दोमाम्ह य कमायकम्मेसु चेव जे भावा ।
 तेहि दु परिणमनो रायाई बघदे चेदा ॥२८२॥’
 ‘पण्णाए धित्ठवो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो ।
 अबमेमा जे भावा ते मज्झ पगेत्ति णायव्वा ॥२८७॥’
 ‘पण्णाए धित्ठवो जो दट्ठा सो अह तु णिच्छयदो ।
 अबमेमा जे भावा ते मज्झ पगेत्ति णायव्वा ॥२८८॥’
 ‘पण्णाए धित्ठवो जो णादा सो अहनु णिच्छयदो ।
 अबमेमा जे भावा ते मज्झ पगेत्ति णायव्वा ॥२८९॥’

—समयसार—(कुन्दकुन्दाचार्य)

उक्त मदभं में भी इसी वान की पुष्टि होती है कि आचार्य ने आत्मानु-भूति और जिनशासनानुभूति में अभेद दर्शाने के लिए १४वीं गाथा को थोड़े फेरबदल के साथ १५वीं गाथा में भी आत्मा के वे सभी विशेषण दुहराए हैं जो कि गाथा १४वीं में है ।

इसे ‘मन’ शब्द मानकर, उमका शान्त अर्थ करना उचित नहीं जँचता, यन जिन आत्मस्वरूप की यहा चर्चा है वह शान्त और अशान्त दोनों ही अवस्थाओं में रहित—परमपारिणामिक भाव रूप है ।

इस प्रकार अपदेश शब्द का अप्रदेशी अर्थ भी आगम विरुद्ध है यनः आत्मा निश्चय में अमरुयानप्रदेशी, व्यवहार से शरीरप्रमाणरूप अमरुयान-प्रदेशी है । ‘शरीरप्रमाणरूप असंख्यानः ।’

उक्त सभी विचारों में भेग आग्रह नहीं । पाठक विचारे और जो युक्ति-युक्त हो उसे ही ग्रहण करे ।

‘मज्झ’ का अर्थ मध्य होता हो ऐसा ही नहीं है । आचार्य कुन्दकुन्द ने इस शब्द का प्रयोग ‘मेरा’ अर्थ में भी किया है । प्रमग में ‘मेरा’ अर्थ से भी पूर्ण सक्ति बैठ जाती है । ‘मेरा’ अर्थ में आचार्य के प्रयोग—

‘होहिदि पुणो बि मज्झ’—२१

‘जं भणति मज्झमिण’—२४

‘मज्झमिणं पोम्मसं दब्ब’—२५

समयसार

प्राचार्य कुन्द-कुन्द की प्राकृत

प्रायः सभी मानते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन शौरसेनी प्राकृत को माध्यम बनाकर ग्रन्थ निर्माण किए। कुछ समय में उनके ग्रन्थों में भाषा की दृष्टि से संशोधन कार्य प्रारम्भ हो गया है और कहा जा रहा है कि इसमें लिपिकारों की संदिग्धता या असावधानी रही है। ये कारण कदाचित्त हो सकते हैं और इनके फलस्वरूप अनेक हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों में एक-एक शब्द के विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में जबकि आचार्य कुन्द-कुन्द की स्वयं की लिखित किसी ग्रन्थ की कोई मूल प्रति उपलब्ध न हो, यह कहना बड़ा कठिन है कि अमुक शब्द का अमुक रूप ही आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपनी रचना में लिखा था। तथा इसकी वास्तविकता में किसी प्राचीन प्रति को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, यतः—‘पुर्णमन्येव न साधुमर्षम्।’

जहाँ तक जैनशौरसेनी प्राकृत भाषा के नियम का प्रश्न है और कुन्दकुन्द की रचनाओं का प्रश्न है—उनकी प्राकृत में उन सभी प्राकृतों के रूप मिलते हैं जो जैन शौरसेनी की परिधि में आते हैं। उन्होंने सर्वथा न तो महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी अथवा अर्धमागधी को ही अपनाया। अपितु उन्होंने उन तीनों प्राकृतों के मिले-जुले रूपों को अपनाया जो (प्राकृत) जैन शौरसेनी में महयोगी है। जैनशौरसेनी प्राकृत का रूप निश्चय करने के लिए हम भाषा-विशेषज्ञों के अभिमत जान लें ताकि निर्णय में सुविधा हो—

‘मागध्यबन्निजा प्राच्या मूरसेन्यर्धमागधी।

बान्हीका दाक्षिणत्या च मज्जभाषा प्रकीर्तिताः ॥’

यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने जैन शौरसेनी को प्राकृत के मूल भेदों में नहीं गिनाया, तथापि जैन साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता में पाया जाता है। दिवम्बर साहित्य इस भाषा में बैसे ही ओल-प्रोल है जैसे ध्वेनाम्बर-माध्यम आवम अर्धमागधी में। सम्भवतः उत्तर से दक्षिण में जाने के कारण दिवम्बरसाधारणों ने इस (जैन शौरसेनी) को जन्म दिया हो—प्रचार की दृष्टि में भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, पर यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है—इसमें सिद्धान्त के समझने में सभी को आसानी अनुभव हुई होगी और सिद्धान्त सहज ही प्रचार में आना रहा होगा। यतः इस भाषा में सभी प्राकृतों के शब्दों का समावेश रहता है—शब्द के किसी एक रूप को ही शुद्ध नहीं माना जाता

अपितु सुविधानुसार सभी रूप प्रयोगों में लाए जाते हैं—जैसा कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने भी किया है।

जैनजीरसेनी के सम्बन्ध में निम्न विचार दृष्टव्य हैं और ये अधिकारी विद्वानों के विचार हैं -

'In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakrit works .. He remarks that the language of these works is influenced by Ardhamagadhi, Jain Maharastri which Approaches it and Saurseni'

—Dr. A.N. Upadhye

(Introduction of Pravachansara)

'The Prakrit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagadhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and thus is exactly the nature of the language called 'Jain Saurseni.'

- Dr. Hiralal

(Introduction of पट्ट खडगम P. IV)

'जैन महाराष्ट्री का नामचुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। यही बात जैन शास्त्रियों के बारे में और जोर देकर कही जा सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोड़ी-सी शोध हुई है, उसमें यह बात विदित हुई है कि इस भाषा में ऐसे रूप और शब्द हैं जो शास्त्रियों में बिल्कुल नहीं मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।

—पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ३८

प्राचीन आगमों और आचार्य कुन्द-कुन्द की रचनाओं में इसी आधार पर विविध शब्द-रूपों के प्रयोग मिलते हैं—दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत के नियमों को लेकर नहीं चले अपितु उन्होंने अन्य प्राकृतों के शब्दरूपों को भी अपनाया। अतः उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से सगोष्ठन की बात सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। आचार्यों के द्वारा अपनाए गए विविध शब्दरूपों की ससक पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत है। हमें आशा है कि पाठक तथ्य तक पहुँचेंगे।

वि० जैन आचार्यों में एक ही आचार्य द्वारा प्रयुक्त विविध प्रयोग :—

षट्खंडागम [१, १, १,]

(महाराष्ट्री के नियमानुसार 'ब' को हटाया) —

उप्यजह (दि) गृ० ११०, कुणह गृ० ११०, वण्णेह गृ० ६८, पम्मेह गृ० ६६, उक्कह गृ० १०१ गच्छह गृ० १०१ दुक्कह १०१, भणह गृ० २६६, ममवह गृ० ३६

मिच्छाहट्टिह गृ० २०, वार्गिकालो कओ गृ० ३१ - इत्यादि ।

(गौरसेनी के अनुसार 'ब' को रहने दिया) -

मुक्काग्गा गृ० ६५, वण्णेहि गृ० ६६, उक्कहि गृ० ३६, पम्मेहि गृ० १०५, उपक्कमोण्हो गृ० ८०, गबं (न०) गृ० १०० णिग्गहो गृ० १०३,

('ब' लोप के स्थान में 'य' सभी प्राकृतों के अनुसार) -

मुक्कायग्गाग्गा गृ० ६६, भणिग्गा गृ० ६५, मुक्कदेवदा गृ० ६, मुक्कदेवदा गृ० ६८, वार्गिकालोकओ' गृ० ३१, णवयग्गा (न०) गृ० १००, काय्क्का गृ० १२५, णिग्गया १०३, मुक्काणाउक्क (निनोयण्णनि) गृ० ३५ लोप में 'य' और अलोप (दोनों)

कुन्व-कुन्व 'षट्पाहुड' के विविध प्रयोग -

ग्रन्थ नाम शब्द और गाथा का क्रम-निर्देश

दर्शनपाहुड	होदि	होड	होई	हवउ	ह्वदि	हवेड
	२६	११, २३, ३१	१६	२०		—
मूनपाहुड	६, २०	११, १६, १७		१६	२०	—
		२०, २६		—	—	३६
वर्गिन्नापाहुड	—	१६, ६५	—	३६, ३६	—	—
बोधपाहुड	—	१५, ३६	११, २६			
भाषपाहुड	—	—	४८, ६५ ३३			
			१०३, १६०	११६	२०	—
			१६३, १५१			५१, २८, ३६
मोक्षपाहुड	३०, ८३	५०, ६०	हवड	१६, १८, ३८	५१, ६८	८३, १००
	१०१,	५०	६३			

१. 'जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' ध्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन गौरसेनी में भी होता है—षट्खंडागम भूमिका पृ० ८६ ।

२. 'ब' का लोप है 'य' नहीं किया ।

निगपाहुड	—	२, १३, १४	—	—	—	—
नीमपाहुड	—	६	२१			
नियमसार	१८, २६, ८५	२, ६, ३१	१०, १०७			
	५५, ५८, ६६	५६, ५७	१६३, १७६	—	११३, ११४	५, २०
	८२, ८३, ६६	१६६, १६८	१६६, १६८		१६१, १६२	१५०
	१०७, १६२	१६६, १७१				
		१७६, १७५				

इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द हैं जो विभिन्न रूपों में दि० जैन आगमों में प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे—

‘गड, गदि । होंट, होंदि, हवदि । णाओ, णादो । भूयत्थो, भूदत्थो । सुयकेवनी, मुदकेवनी । णायव्वो, णादव्वो । पुगल, पोगल । लोए, लोमे । आदि :

उक्त प्रयोगों में ‘द’ का लोप और अलोप तथा लोप के स्थान में ‘य’ भी दिखाई देता है। स्मरण रहे केवल शौरसेनी को ही ‘द’ का अलोप मान्य है—दूसरी प्राकृतों में ‘क ग च ज त द य ब’ इन व्यञ्जनों का विकल्प में लोप होने के कारण दोनों ही रूप चलते हैं। जैन शौरसेनी में अवश्य ही महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी के मिले-जुले रूपों का प्रयोग होता है।

पुगल और पोगल

प्रवचनसार आदि में उक्त दोनों रूप मिलते हैं। जैसे गाथा—२.७६, २.६३ और गाथा २-७८, २-६३।

पिशल व्याकरण में उल्लेख है - “जैन शौरसेनी में पुगल रूप भी मिलता है”- पैरा १२४। इसी पैरा में पिशल ने लिखा है “समुक्त व्यञ्जनों से पहले ‘उ’ को ‘ओ’ हो जाता है……। मारकण्डेय के पृष्ठ ६६ के अनुसार शौरसेनी में यह नियम केवल ‘मुक्ता’ और ‘पुष्कर’ में लागू होता है। इस तथ्य की पुष्टि सब ग्रन्थ करते हैं।”—पैरा १२४,

दूसरी बात यह भी है कि ‘ओत्-सयोगे’ वाला (उ को ओ करने का) नियम मभी जगह दृष्ट होता तो ‘बुक्केज्ज’ (गाथा ५) पुव्वकालाहि (गाथा २१) बुक्कदि, बुक्क (गाथा ४५ सम्बत्तार) आदि में भी उकार को ओकार होना चाहिए। पर ऐसा न करके दोनों ही रूपों को स्वीकार किया है—‘क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिः।’

लोए या लोणे—

षट्शङ्खगम मगनावरण-मूलमत्र जमोकार में 'लोए' अशुष्क रूप में लिखा गया है जो आबाल-वृद्ध में बिना किसी भ्रानि के धडाग्रपद बना हुआ है। पित्रल ने स्वयं लिखा है प्राकृत में निम्न उदाहरण मिलत है 'एनि' के स्थान में 'एइ' बोला जाता है, 'लोके' को 'लोए' कहते हैं।' पैरा १७६।

पैरा १७६ ही 'जैन शौर्यमेनी की प्राचीनतम हस्त-लिपियाँ अ, आ में पहले और सभी स्वरों के बाद अर्थात् इसके बीच में 'य' लिखनी है' -

'बोलु' रूप जैन महाराष्ट्री का है और वलु शौर्यमेनी का। पित्रल ने लिखा है 'शौर्यमेनी' में 'बब' की सामान्य क्रिया का रूप कभी 'बोलु' नहीं बोला जाता। किन्तु मदा 'वलु' ही रहता है।' पैरा ५३०

उक्त पूरी स्थिति के प्रकाश में ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'जैन शौर्यमेनी' में अधर्मागधी, जैन महाराष्ट्री और शौर्यमेनी इन तीनों प्राकृतों के प्रयोग होने रहे हैं, अन आगमों में आग (उक्त नियम में सर्वाधिन) सभी रूप ठीक है। यदि हम किसी एक को ठीक और अन्य का गलत मान कर चले तब हमें पूरे आगम और कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थों के शब्दों को (भाषादृष्टि में) बदलना पड़ेगा यानी हमारी दृष्टि में सभी गलत होंगे जैसा कि हमें दृष्ट नहीं और न जैन शौर्यमेनी प्राकृत का ही ऐसा दृष्ट होगा। इसी मन्दर्भ में यदि सभी जगह शौर्यमेनी के नियमानुसार 'द' रखना दृष्ट होगा तो

'पडम हांठ' या 'पडम हवड' मगन के स्थान पर भी 'हवडि' पड़ना होगा जैसा कि चलन जैन के किसी भी सम्प्रदाय में नहीं है आदि। पाठक विचारे।

आत्मा का असंख्यात प्रदेशित्व

॥क.॥ आचार्य कुन्दकुन्द के समय मार की १५वीं गाथा में गृहीत 'अपदेम' शब्द के अर्थ को लेकर चर्चा उठ खड़ी हुई और इस शब्द को आत्मा का विशेषण मानकर इसका अर्थ अप्रदेश यात्री आत्मा अप्रदेशी है ऐसा भी किया जाने लगा। जो सर्वथा— सभी नयों में भी किसी भाति उचित नहीं था। आत्मा तो सर्वथा अमक्यात प्रदेशी ही है। चाहे इस गाथा में संबंधित अर्थ में हां या पृथक् अर्थ रूप में। तथाहि

१ विज्जदि केवलणाण केवलमीवसु च केवलविग्गिय ।

केवलदिट्ठ अमुत्त, अन्थित मप्पदेमत्त ॥

—समयमार १८१

सप्रदेशन्वादि स्वभावगुणा भवन्ति इति' टीका ।

मिद्ध भगवान् के केवलज्ञान, केवलमुख, केवलवीर्य, केवलदर्शन, अमूर्तिक-पना, अस्मिन्त्वभाव तथा सप्रदेशीयता अर्थात् अमक्यात प्रदेशोपना है। ये सभी स्वाभाविक गुण होते हैं जो पृथक् नहीं हो सकते हैं।

२ आत्मा की गणना अस्मिकायो में है और अस्मिकाय में एक में अधिक प्रदेश माने गए हैं। काल द्रव्य जो अस्मिकाय नहीं है उसे भी किसी अपेक्षा, कम में कम एक प्रदेशी तो माना ही गया है। -

असंख्यया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।

आकाशम्याऽजना ।

संख्ययासंख्ययाश्च पुद्गलानाम् ॥'

—तत्त्वार्थ सूत्र ५

३ प्रवचनमार में आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धजीव का अस्मिकाय और सप्रदेशी कहा है। गाथा १ ६१ की टीका में जयमेनाचार्य स्पष्ट करने हैं— 'अप्रदेश अप्रदेश कालाणुपरमाण्वादि मपदेम शुद्धजीवास्मिकायादि पञ्चास्मिकायस्वरूपम्।' -अर्थात् कालाणु परमाणु आदि अप्रदेश हैं, शुद्धजीवास्मिकायादि सप्रदेश हैं।

४. आत्मा को अप्रदेशी मानने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा—यह शून्य—शरविषाणवन् ठहरेगा—उत्पाद-व्यय-धीव्य का अभाव होने से जी सत्ता का सर्वथा अभाव होगा। कहा भी है—

'जम्भ न मति पदेमा पदेसमेत्तं तु तच्चदो षादं ।

मुष्ण जाण तमत्थ.....। प्रवचनमार २/५२ ॥

'उत्पाद-व्ययधौव्यमुक्त्वा मत् ।

मद्द्वय्यलक्षणम् ॥' मन्वार्थमूत्र ३

५. यदि येन-केन प्रकारेण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे एक प्रदेशी (कालवत्) भी माना जायेगा तो आत्मा का सिद्धावस्था में परमाणु अवगाहमात्र आकाश प्रदेश को अवगाह करके ही रहना पड़ेगा और वैसे कि सिद्धान्त है सिद्धान्तार्ण 'किञ्चना चरमदेहदो मिद्धा' धनुषो क्षेत्र परिमाण आकाश को घेरकर विराजमान है का व्याख्यान होगा ।

६. आत्मा में प्रदेशन्व गुण नहीं बनेगा, जबकि प्रदेशन्वगुण का होना अनिवार्य है 'प्रदेशन्वत् नृत्वाकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेश एक आत्मा भवति ।' --अर्थान् एक आत्मा लोकाकाश जिनने (अवस्थान) प्रदेश वाला होता है ।

म० भा० मि० वृ० २/८

७. प्रदेशन्व जकिन की सिद्धि नहीं होगी, जबकि आत्मा के इस जकिन की अनिवार्यता है

'आममार महरण-विस्तरणत्वभितकिञ्चिदूनचरमशीर्षपरिमाणावस्थित-लोकाकाशमस्मिन्नामावयवन्वक्षानानियतप्रदेशन्वजकिन ।'

ममयमार कल्प म्यादादाधिकार/२६३ टीका

८. प्रवचनमार में 'निर्यक्प्रचय' और 'ऊर्ध्व-प्रचय नामक दो प्रचय बनलाए हैं और कहा है कि, प्रदेशों के समूह का नाम 'निर्यक्प्रचय' है । वह 'निर्यक्प्रचय' काल के अनिरुक्ता सभी द्रव्यों और मुक्तान्मद्रव्य में भी है । इससे शुद्धनय में भी शुद्ध आत्मा बहुप्रदेशी ही रहना है । 'प्रदेशयवयो हि निर्यक्प्रचयः' --अमृतचन्द्राचार्य ।

'स च प्रदेशप्रचयलक्षणास्निर्यक्प्रचयो यथा मुक्तान्मद्रव्ये भणितमन्वा कालं विहाय स्वकीय-स्वकीयप्रदेशमद्यानुसारेण जगद्रव्याणां न संभवतीति निर्यक्प्रचयो व्याख्याता ।

द्रव्यों की पहिचान के लिए आगम में पृथक्-पृथक् रूप में द्रव्यों के गुण-धर्मों को गिनाया गया है, सभी द्रव्यों के अपने-अपने गुणधर्म नियत हैं । कुछ साधारण हैं और कुछ विशेष । जहां साधारणगुण वस्तु के अस्तित्वदि का द्धमित करने हैं वहां विशेषगुण एक द्रव्य की अन्य द्रव्यों में पृथक्ता बनलाते हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुह्यत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व ये जीव

द्रव्य के साधारण गुण हैं और ज्ञान' दर्शन, मुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये विशेष गुण हैं। कहा भी है—

“लक्षणानि कानि” अस्मिन्त्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुत्वत्वं, प्रदेष्टृत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्व, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः । प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्” ज्ञानदर्शनमुखवीर्याणि स्पृशंश्चर्मगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्वं अवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनमचेतनत्वं मूर्तममूर्तत्वं द्रव्याणां पौष्टविशेषगुणाः ।

प्रत्येक जीवपदगमयोर्यद ।”— (आत्मपपद्धति गुणाधिकार)

जीव में निर्धारित गुणों को जीव कभी भी किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता । इतना अवश्य है कि कभी कोई गुण मुख्य कर लिया जाता है और दूसरे गौण कर लिए जाते हैं । यह अनेकान्त दृष्टि की अपनी विशेष शक्ती है । द्रव्य में गौण किए गए गुण-धर्मों का द्रव्य में सर्वथा अभाव नहीं हो जाना—द्रव्य का स्वरूप अपने में पूर्ण रहता है । यदि गौण रूप का सर्वथा अभाव माना जाय तो वस्तु-स्वरूप एकान्त-मिथ्या हो जाय और ऐसे में अनेकान्त दृष्टि का भी व्यापार हो जाय । अनेकान्त तभी कार्यकारी है जब वस्तु अनेक धर्मों हो—“अनन्तधर्मणस्तत्त्वं”, “सकलद्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता ।”

अनेकान्त दृष्टि प्रमाण नयों पर आधारित है और एक देश भाग को जाना होने में नय दृष्टि युगपत् वस्तु के पूर्ण रूप को जाना नहीं हो सकती—इसलिए नयाश्रित ज्ञान छद्मस्थ के अधीन होने में वस्तु के एक देश को जान सकना है । वह अज्ञ को जाने-कहे, यहां तक तो ठीक है । पर, यदि वह वस्तु को पूर्ण वैसी और उतनी ही मान बैठे तो मिथ्या है । यत्न वस्तु, ज्ञान के अनुसार नहीं होनी अपि तु वस्तु के अनुसार ज्ञान होता है । अतः जिसने अपनी शक्ति अनुसार जितना जाना वह उसकी शक्ति में (सम्यग्ज्ञानानुसार) उतने रूप में ठीक है । पूर्ण रूप तो केवलज्ञानगम्य है जैसा है वैसा है । नय ज्ञान उसे नहीं जान सकना है । फलतः —

आत्मा के स्वभाव रूप असंख्यात प्रदेष्टृत्व को किसी भी अवस्था में नकारा नहीं जा सकता । स्वभावतः आत्मा निश्चय-नय से तो असंख्यात प्रदेष्टृ है ही, व्यवहार नय में भी जिसे शरीर प्रमाण कहा गया है वह भी असंख्यात प्रदेष्टृ ही है । यतः दोनों नयों को द्रव्य के मूल स्वभाव का नाश इष्ट नहीं । असंख्य प्रदेष्टृत्व आत्मा का सर्वकाल रहने वाला गुण-धर्म है, जो नयों में कभी गौण और कभी मुख्य कहा जा जाना जाता है । ऐसे में आत्मा को अनेकान्त

दृष्टि से प्रदेसी मान लेने की बात ही नहीं ठहरनी। क्योंकि “अनेकान्तात्” छवस्थों को पदार्थ के सत्स्वरूप में उसके अज्ञ को जानने की कुंजी है, वीण किए गए अज्ञों को नष्ट करने या द्रव्य के स्वाभाविक पूर्ण रूप को जानने की कुंजी नहीं। यदि हम दृष्टि में बन्धु का सर्वथा एक अज्ञ-रूप ही मान्य होगा तो “अनेकान्त सिद्धान्त” का व्याख्यान होगा।

यदि आत्मा में असंख्य प्रदेजित्व या अप्रदेजित्व की मिश्रि करनी हो तो हमें जीव की उक्त शक्ति को लक्ष्य कर ‘प्रदेज’ के मूल लक्षण को देखना पड़ेगा। उसके आधार पर ही यह मभव होगा। अब यहाँ सिद्धान्त ग्रन्थों में “प्रदेज” के लक्षण उद्धृत किए जा रहे हैं

१. “म (परमाणु) यावन्निक्षेत्रे व्यतिरिक्तं न प्रदेज ।”

— परमाणु (पुद्गल का सर्वमूढम भाग) जिसका पुन नष्ट न हो सके) जिनने क्षेत्र (आकाश) में रहता है, उस क्षेत्र को प्रदेज कहते हैं।

२. “प्रदेजानामपेक्षक सर्वमूढमन्तु परमाणोरवगाहः ।” ल० भा० ५-ध

— प्रदेज नाम अपेक्षक है वह सर्वमूढम परमाणु का अवगाह (क्षेत्र) है।

३. “नैहि आकाशादीना क्षेत्रादिविभाग प्रदिश्यते ।” - ल० बा० २, ३ध,

प्रदेजों के द्वारा आकाशादि (द्रव्यों के) क्षेत्र आदि का विभाग इंगित किया जाता है।

४. जावदिय आयाम अविभागीपुद्गलानुवृद्धः ।

न नु पदेम ज्ञाने मन्वाणुद्गणदाणरिहः ॥”

जिनना आकाश (भाग) अविभागी पुद्गल अज्ञ क्षेत्र है, उस आकाश भाग को प्रदेज कहा जाता है।

५. “जेलियमेन मेन अणुणारुद्धः ।”

- द्रव्यम्ब० नयच० १६०

— अणु जिनने (आकाश) क्षेत्र को व्याप्त करता है उनना क्षेत्र प्रदेज कहलाता है।

६. “परमाणुव्याप्तक्षेत्र प्रदेज ।”

— प्र० मा० जयच० ५०

— परमाणु जिनने क्षेत्र को व्याप्त करता है, उनना क्षेत्र प्रदेज कहा जाता है।

७. “शुद्धपुद्गलपरमाणुहीननभम्बलमेव प्रदेजः ।”

शुद्ध पुद्गल परमाणु में व्याप्त नभम्बल ही प्रदेज कहलाता है।

८. “निर्विभाग आकाशावयवः प्रदेजः ।”

— निर्विभाग आकाशावयव प्रदेज होता है।

६. "प्रदिश्यन् इति प्रदेशा ॥३॥ प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन् इति प्रदेशाः ।
 कथं प्रदिश्यन्ते ? परमाण्ववस्थान् परिच्छेदान् ॥४॥ द्रव्यमाणलक्षणो
 द्रव्यपरमाणु स यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवहियते ।
 नै धर्माधर्मकस्त्रीवा नृत्यामक्येयप्रदेशा ।" —तन्वा० राज० ५/८/३
 १०. "प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्व अविभागिपुद्गल-परमाणुनावष्टम्भम् ।"

—आत्माप पठति

आगमों के उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि "प्रदेश" और अप्रदेश शब्द आगमिक और पारिभाषिक है और आकाशभाग (क्षेत्र) परमाणु में प्रयुक्त होते हैं । आगम के अनुसार आकाश के जितने भाग को जो द्रव्य जितना व्याप्त करना है वह द्रव्य आकाश के परमाणु के अनुसार उनमें ही प्रदेशों वाला कहा जाता है ।

जका यदि "शब्दनामनेकार्थ" के अनुसार "प्रदेश" का "खण्ड" और "अप्रदेश" का "अखण्ड" अर्थ माने तो क्या हानि है ?

ममाधान— शब्दों के अनेक अर्थ होते हुए भी उनका प्रासंगिक अर्थ ही ग्रहण करने का विधान है । जैसे मेघदूत का अर्थ घोड़ा है और नमक भी । पर, भोजन प्रसंग में दूध शब्द में "नमक" और यात्रा प्रसंग में "घोड़ा" ग्रहण किया जाता है । इसी प्रकार द्रव्य के गुण-स्वभाव में "प्रदेश" "अप्रदेश" का आगमिक पारिभाषा के भाव में लिया जायगा । अन्यथा शुद्धपयोगी आत्मा के स्वर्भ में - "अप्रदेश" का अर्थ "एक प्रदेश" करने पर शुद्धात्ममिष्ट भगवान में एक प्रदेशी होने की आपत्ति होगी जब कि उन्हें "अप्रदेश" न मान कर अप्रदेश अमरस्यान प्रदेशों वाला स्वाभाविक रूप में माना गया है । उनकी स्थिति "किंचिदूणा-चरमदेहदोमिष्टा के रूप में है । प्रदेश का परमाणु आकाशक्षेत्रावगाह में माना गया है । आत्मा को अखण्ड मानने में कोई बाधा नहीं -- आत्मा अमरस्यान प्रदेशी और अखण्ड है ही ।

आगम में एक में अधिक प्रदेश वाले द्रव्य को "अस्मिकाय" और मात्र एक प्रदेशी द्रव्य को "अस्मिकाय" में बाहर रखा गया है । कालाणु और अविभाज्य पुद्गल परमाणु के सिवाय सभी द्रव्यों (आत्मा को भी) को अस्मिकाय से बाहर (एक प्रदेशी) द्रव्यों में गिनाया हो ऐसा पढ़ने और देखने में नहीं आया ।

आत्मा को अप्रदेशी कहने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं कि "प्रदेशित्व" "अप्रदेशित्व का आधार आकाश की अवगाहना का क्षेत्र माना गया है—परमपारिणामिक भाव नहीं । यदि इनका मापदण्ड भावों से किया

गया होना तो आचार्य अरहंतों और मित्रों को भी "अप्रदेशी" घोषित करते, जबकि उन्होंने ऐसा घोषित नहीं किया।

उक्त विषय में अन्य आचार्यों के वचन ऊपर प्रस्तुत किए गए। आचार्य कुन्दकुन्द ने संबंधित विषय को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे भी देखना आवश्यक है क्योंकि "समयमार" उसी की रचना है। "समयमार" के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में कहा गया है

"अप्पा णिच्चां अमखिअप्रदेमो देमिओ उ समयम्मि ।

णाव मां मक्कई त्तो हीणो अहिओ य काउ ज ॥"

समयमार ४३२

"जीवो हि द्व्यस्मिन्नेन तान्निगो, अमख्यप्रदेमो लोकगिमाणश्च ।"

टीका, अमनचन्द्राचार्य (आत्मव्याप्ति)

आत्मा द्व्याधिकनयेन नित्यमनथा चात्मक्यानप्रदेमो देजित समये परमागमे तस्यान्मन शुद्ध चेतन्यान्वयमक्षण द्व्यस्मिन्नेन तथेवात्मक्यानप्रदेमश्च च पूर्वमेव निष्ठति ।"

टीका, त्रयमेनाचार्य, (नामपर्यवृत्ति)

— उक्त मन्दर्भ को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। यह स्वयं स्पष्ट है। गाथा में "नित्य", आत्मव्याप्ति में "द्व्यस्मिन्नेन", और नामपर्यवृत्ति में "द्व्याधिकनयेन", ये तीनों विशेषनिर्देश द्व्याधिक (निश्चय) नय के कथन को दृष्टि करने हैं। एतावत हम प्रसंग में आत्मा के अमक्यान प्रदेजित्व का कथन निश्चयनय की दृष्टि में ही किया गया है, व्यवहार नय की दृष्टि में नहीं।

आगम में व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के यथेच्छ गीति में प्रयोग करने की हमें छूट नहीं दी गई। इनके प्रयोग की अपनी मर्यादा है। निश्चय नय के कथन में वस्तु की स्वभाव शक्ति एवं गुण धर्म की मुख्यता रहनी है और व्यवहार नय में उपचार की। इसके अनुसार आत्मा का बहुप्रदेजित्व निश्चयनय का कथन है, व्यवहारनय का नहीं।

इसका फलितार्थ यह भी निकलता है कि जो कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के स्वभावरूप-परम पारिमाणिक भावरूप सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा को नित्य एवं अमख्यप्रदेशी घोषित करने हैं, वे ही आचार्य आत्मा को कथमपि किसी भी प्रसंग में अप्रदेशी नहीं कह सकते —

"जीवापोणलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगामं ।

मपदेमेहि अमखा णत्थि पदेमणि कामम्म ॥

— कुन्दकुन्द प्रवचनमार ४३

“अस्मि च सर्वतविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्याऽसंख्येय—प्रदेशोपरि-
स्वावान् जीवस्य ।” —वही, अमृतचन्द्राचार्य-तत्त्वदीपिका

“तस्य नावन मंभारावम्भायां विस्तारोपमंहारयोरपि प्रदीपवन् प्रदेशानां
हानिवृद्धबोरभावान् व्यवहारे देहमात्रांपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽसंख्येय
प्रदेशत्वम् ।”

—वही, जयनेनाचार्य, नात्ववृत्ति

जीव के अनन्त्यान प्रदेशित्व को किसी भी अपेक्षा से उपचार या व्यवहार
का कथन नहीं माना जा सकता। प्रदेश व्यवस्था द्रव्यों के स्वाधीन है और वह
उनका स्वभाव ही है और स्वभाव में उपचार नहीं होना। नत्वायं राजवानिक
(५/८/१३) का कथन है कि—

“हेत्वपेक्षाभावात् ॥३॥ पुद्गलेषु प्रमिद्धहेतुमवेष्ट्य धर्मादिषु प्रदेशोप-
चारः न क्रियते तेषामपि स्वाधीन प्रदेशित्वात् । तस्मादुपचार कल्पना न युक्ता ।”

स्वर्गीय, न्यायाचार्य पं० महेंद्रकुमार जी का यह कथन विशेष दृष्टव्य
है :—

“शुद्ध नय दृष्टि में अवन्त उपयोग स्वभाव की विवक्षा से आत्मा में
प्रदेश भेद न होने पर भी मंभारी जीव अनादि कर्म-बन्धनबद्ध होने से मावयव
ही है ।” —त० बा० (ज्ञानपीठ) पृ० ६६६

एक बात और। अपेक्षाभित होने से नय-दृष्टि में वस्तु का पूर्ण त्रैकालिक-
शुद्धस्वभाव गम्य नहीं होता। पूर्ण ग्रहण तो सकन प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा ही
होता है। इमीनिग आचार्य पदार्थज्ञान को नय-दृष्टि में अनीन घोषित करते हैं।
वे कहते हैं :—

“जयपक्कानिककतो भण्णदि जो सो समयमारो ।”

“मग्गजयपक्खरहिदो भणिदो जो सो ममयमारो ।”

—समयसार, १४२, १४४

मूर्त द्रव्य में तो परमाणु की प्रदेश संज्ञा मानी जा सकती है, पर प्रदेश
की साम्प्रतीय परिभाषा की वहां भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुद्गल द्रव्य के
निवाय सभी अमूर्त द्रव्यों में प्रदेश का भाव आकाश क्षेत्र में ही होना उपयोग
के अनुसार नहीं।

मूर्त पुद्गलद्रव्ये संख्यालान्ख्यालान्ताणूनां पिच्छा स्कंधास्त एव त्रिविधा
प्रदेशा भण्यन्ते न च क्षेत्रप्रदेशाः ।—(शेषाणां क्षेत्रापेक्षेति फलितम्)

—वृ० द्रव्य सं० टीका भाषा २५

सिद्धत्व पर्याय में उस पर्याय के उपादान कारणभूत बुद्धात्मद्रव्य के क्षेत्र का परिमाण—चरमदेह से किञ्चित् गूढ है जो कि तत्कालीन (अग्नि जरीर) परिमाण ही है, एक प्रदेश परिमाण नहीं।

‘किञ्चिदुत्तरमग्नीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतबुद्धात्म-द्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव ।’

--वही

द्रव्यसंग्रह में भंका उठाई गई है कि सिद्ध-आत्मा को स्वदेहपरिमाण क्यों कहा ? वही स्पष्ट किया है कि—

‘स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकमाख्यत्रयं प्रति ।’

--वही भाषा टीका

स्मरण रहे कि कोई आत्मा को अणुमात्र (अप्रदेशी) कहते हैं और कोई व्यापक। उनकी मान्यता ममीचीन नहीं, यहाँ यह स्पष्ट किया है।

‘निश्चयेन लोकमात्रोऽपि । विनिष्टाववाहपरिणाम-गतिवृत्तयान् नाम-कर्म निवृत्तमणुमहत्तजरीरमधिनिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रो ।’ -- (न० ही०)

निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽमकयेयप्रदेशप्रमितोऽपि व्यवहारेण जरीर-नामकर्मोदयप्रतिनाणुमहच्छरीरप्रमाणत्वात् स्वदेहमात्रो भवति ।’--

- (नाट्यं ५०) २७.

यदि उपयोगावस्था में आत्मा अप्रदेशी माना जाता है तो आत्मा के अखंड होने में यह भी मानना पड़ेगा कि आरम प्रदेश वृत्त जरीर में मिश्र कर अप्रदेशमात्र-अवगाह में हो जाने है और शेष पूरा जरीर भाग आत्महीन (जम्ब) रहता है—जैसा कि पढ़ने-मुनने में नहीं आया।

छद्मत्व का ज्ञान प्रमाण और नयगर्भित है और केवली भगवान का ज्ञान प्रमाणरूप है। नय का भाव अज्ञाही और प्रमाण का भाव सर्वज्ञाही है। दोनों में ही अनेकान्त की प्रवृत्ति है, अनेकान्त की अवहेलना नहीं की गई—‘अनेकान्तेऽप्यनेकान्त’। प्रसंग में भी इसी आधार पर आत्मा के अस्तित्वप्रदेशत्व का विधान किया गया है तथाहि—

अनेकान्त की दो कोटिया हैं। एक ऐसी कोटि जिसमें अपेक्षावृष्टि से अंशों को क्रमजः जाना जाय और दूसरी कोटि वह जिसमें मकल को गुणवत् प्रत्यक्ष जाना जाय। प्रथम कोटि में सभी पदार्थों को जानने वाले चार ज्ञानधारी नक के सभी छद्मत्व आते हैं। इन सभी के ज्ञान परमहायापेक्षी आधिक और क्रमिक होने हैं। प्रत्यक्ष होने पर भी वे ‘देज-प्रत्यक्ष’ ही कहलाते हैं। दूसरे ज्यों में इन सभी को एक समय में एक प्रदेशवाही भी माना जा सकता है यानी वे

एक प्रदेश (ऊर्ध्वप्रचय) के ज्ञाता होते हैं। दूसरी कोटि में केवली भगवान को लिया जायगा यनः ये एक ओर एकाधिक अनंत प्रदेश (तिर्यकप्रचय-बहुप्रदेशी द्रव्य) के युगपत् ज्ञाता हैं। आचार्यों ने इसी को ध्यान में लेकर ऊर्ध्व प्रचय को 'क्रमाज्जेकान्त' और तिर्यक् प्रचय को 'अक्रमानेकान्त' नाम दिये हैं—

'तिर्यक्प्रचय तिर्यक् मामान्यमिनि विम्वारमामान्यमिनि 'अक्रमा-
ज्जेकान्त इति च भण्यते ।' 'ऊर्ध्व प्रचय इत्यूर्ध्वमामान्यमित्यायनमामान्यमिनि
'क्रमानेकान्त' इति च भण्यते । — प्रब० सार. (न० वृ) १४१।२००।६

'वस्तु का गुण समूह अक्रमाज्जेकान्त है क्योंकि गुणों की वस्तु में युगपद-
वृत्ति है और पर्यायों का समूह क्रमाज्जेकान्त, है क्योंकि पर्यायों की वस्तु में क्रम
में वृत्ति है' -- जैनेन्द्र मि० कोष पृ० १०८

स्पष्ट है कि क्रमाज्जेकान्त में वस्तु का स्वाभाविक पूर्णरूप प्रकट नहीं
होता, स्वाभाविक पूर्णरूप तो अक्रमाज्जेकान्त में ही प्रकट होता है और
बहुप्रदेशित्व का युगपद्वाही ज्ञान केवलज्ञान ही है। अतः केवलज्ञानगम्य—
प्रदेशमम्बन्धी बही रूप प्रमाण है, जो मिथ्य भगवान का रूप है—

किंचिदूणा चरम देहदो मिट्ठा ।' अर्थात्—अमंख्यात प्रदेशी ।

आगम में द्रव्य का मूल स्वाभाविक लक्षण उसके गुणों और पर्यायों को
बतलाया गया है और ये दोनों ही सदाकालद्रव्य में विद्यमान हैं। द्रव्य के गुण
द्रव्याधिक नय और पर्यायों पर्यायाधिक नय के विषय हैं। अब हम कहते हैं कि
'आत्मा अखण्ड है' तो यह कथन द्रव्याधिकनय का विषय होना है और जब
कहते हैं कि 'आत्मा असंख्यात-प्रदेशी है' तो यह कथन पर्यायाधिकनय का विषय
होना है दोनों ही नय निश्चय में आते हैं। जिसे हम व्यवहार नय कहते हैं वह
द्रव्य को पर-संबोध अवस्थारूप में ग्रहण करता है। चूँकि आत्मा का अमंख्य-
प्रदेशित्व स्वाभाविक है अतः वह इस दृष्टि से व्यवहार का विषय नहीं—निश्चय
का ही विषय है। द्रव्याधिक पर्यायाधिक दोनों में एक की मुख्यता में दूसरा
पीछे हो जाता है—द्रव्यस्वभाव में न्यूनाधिकता नहीं होती अतः स्वभावतः
किसी भी अवस्था में आत्मा अप्रदेशी नहीं है। वह त्रिकाल अमंख्यात प्रदेशी तथा
अखण्ड है।

आत्मा को सर्वथा असंख्यातप्रदेशी मानने पर अर्थक्रियाकारित्व का
अभाव भी नहीं होता। यनः अर्थक्रियाकारित्व का अभाव वहां होता है जहां द्रव्य
के अन्य धर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर उसे एक कूटस्थ धर्मरूप में ही स्वीकार किया
जाता है। वहां तो हमें आत्मा के अन्य सभी धर्म स्वीकृत हैं केवल प्रदेशित्वधर्म

के सम्बन्ध में ही उसके निर्धारण का प्रश्न है यहाँ अन्य धर्मों के रहने से स्वभावशून्यता भी नहीं होगी और ना ही इत्यर्थता का अभाव । यदि एक धर्म के ही आसरे में (अन्य धर्मों के रहने हुए) अर्थक्याकारित्व की हानि होती हो तब तो एकप्रदेशी होने में कालानु, पुद्गलानु में और असत्यातप्रदेशी होने में मिथो में भी अर्थक्याकारित्व का अभाव हो जायगा - पर ऐसा होना नहीं ।

राजबानिक में आत्मा के अप्रदेशपने का भी कथन है पर वह आत्मा के असत्यातप्रदेशत्व के निषेध में न होकर शुद्धदृष्टि को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है अर्थात् आत्मा यद्यपि परमाथ में असत्यातप्रदेशी अवश्य है तथापि शुद्ध-दृष्टि की विवक्षा में बहुप्रदेशीपने को गौण कर अन्वष्टम्भ में ग्रहण करने के लिए अभिप्रायवश उसे अप्रदेशण्य कहा गया है । प्रदेश की जास्त्रीय परिभाषा को लक्ष्य कर नहीं ।

प्रकृत में उपसहाररूप देना विज्ञेय जानना चाहिए कि जहाँ तक मोक्षमार्ग का प्रसंग है, उसमें निश्चय का अर्थ करने समय, उसमें यथावेना होने पर भी अभेद और अनुपचार की मुख्यता रखी गई है । इस दृष्टि को याध कर जब अप्रदेशी का अर्थ किया जाता है तब प्रदेश का अर्थ भेद या भाग करने पर अप्रदेश का अर्थ अन्वष्ट हो जाता है । इसलिए परमाथ में जीव के स्व-स्वरूप-शक्ति में असत्यातप्रदेशी होने पर भी दृष्टि को अपेक्षा उसे अन्वष्टम्भ में अनुभव करना आगम सम्मन है । प्रदेश की जास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि में आत्मा असत्यातप्रदेशी और अन्वष्ट है ही और प्रदेशानगही होकर भी उसके असत्यप्रदेशी हो सकने में कोई बाधा नहीं । इसका निरकथ है कि आत्मा अप्रदेशी तथा अन्वष्ट नहीं, अपितु असत्यातप्रदेशी तथा अन्वष्ट है ।

५ स्वस्तिक रहस्य

आस्तिक भाग्नियो में, चाहे वे वैदिक मतावलम्बी हों या मनातन-जैन मतावलम्बी। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी की मांगलिक क्रियाओं में (जैसे विवाह आदि पंद्रह सत्कार, चूल्हा-बक्की स्थापना, दुकानदारों के खाना-बही, तराजू-बाट के झुल्लत में) तीन परिपाटियाँ मुख्य रूप में देखने को मिलती हैं। कुछ लोग 'ॐ' लिख कर कार्य प्रारम्भ करते हैं और कुछ स्वस्तिक अंकित कर कार्य का शीर्गबेज करते हैं। इसके सिवाय कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो दोनों का प्रयोग में लाते हैं। वे 'ॐ' भी लिखते हैं और स्वस्तिक भी अंकित करते हैं। ग्रामीण अनपढ़ स्त्रियाँ भी इन विधियों को मादर अपनाती हैं। जैनियों के आगमों में 'ॐ' और 'स्वस्तिक' को प्रमुख स्थान दिया गया है। वेदों में भी ॐकार को 'प्रणव' माना गया है, और प्रत्येक वेद मन्त्र का उच्चारण ॐकार में प्रारम्भ होता है। 'स्वस्तिक' शब्द भी वेदों में अनेक बार आता है जैसे 'स्वस्ति न इन्द्र' इत्यादि। जब एक ओर भारत में इनका इतना प्रचार है, तब दूसरी ओर जर्मन देश भी 'स्वस्तिक' से बर्चित नहीं है। वहाँ स्वस्तिक चिह्न को राजकीय सम्मान मिला हुआ है। गहराई से खोज की जाय तो अंग्रेजों के काम चिह्न में भी 'स्वस्तिक' की मूल झलक मिल सकती है। सम्भावना हो सकती है कि ईसा की फौजी के बाद चिह्न का नामान्तर या भावान्तर कर दिया गया हो।

'ॐ' के सम्बन्ध में विविध मतावलम्बी विविध-विविध विचार प्रस्तुत करते हैं और विचार प्रसिद्ध भी है यथा 'ॐ' परमात्मा वाचक है, 'मगल स्वरूप है' इत्यादि। जैनियों की दृष्टि में 'ॐ' पञ्चपरमेष्ठी वाचक एक लघु सकेत है इसे पञ्चपरमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस प्रकार जिन जामन में जमोकार मन्त्र की अपार महिमा है। प्रत्येक जैन, चाहे वह किसी पन्थ का हो, हिमालय से कम्याकुमारी तक इस मन्त्र को एक स्वर से पढ़ता है। मन्त्र इस प्रकार है—

‘जमो अरहताण जमो सिद्धाण जमो आइरियाण ।

जमो उवज्जायाण जमो लोए सव्वसाहूण ॥’

अरहन्तो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार और लोक में सर्व साधुओं (श्वघ्न जैन) मुनियों को नमस्कार ।

ॐ में परमेष्ठो

यदि उक्त मन्त्र को सर्वगुण सम्पन्न रखने हुए, एकाक्षर में उच्चारण करना हो तो 'ॐ' वाच कह देने से निर्वाह हो जाता है, क्योंकि 'ॐ' को जासो में बीजाक्षर माना गया है। जिस प्रकार छोटे में बीज में वृक्षरूप होने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार 'ॐ' में पूरे जमोकार मन्त्र की सामर्थ्य है, क्योंकि 'ॐ' में पाचो परमेष्ठी वर्तित है। तथाहि—

'अरहता अमरीरा आहरिया यह उबम्माया मुनिजो पढमस्सर निप्यण्णो ऊंकारो पचपरमेद्वी ॥'

अरहन्, अमरीर (मिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि, इन पाचो परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर में सम्पन्न 'ॐ' है, और यह 'ॐ' परमेष्ठी वाचक है। तथाहि—

अरहन्, का अ, अमरीर (मिद्ध) का अ, आचार्य का आ उपाध्याय का उ और मुनि का म्।

अ + अ आ (अक सबजें दोष) +

आ + आ आ (... ..) +

आ + उ ओ (आद्गुण)

ओ + म् ओम् - अनुस्वारयुक्त रूप ॐ

पच परमेष्ठियों के आद्यक्षरों में निम्न 'ॐ' की महिमा इस प्रकार निदिष्ट है—

ॐकार बिन्दुमयुक्त्वं नित्यं ध्यायन्नि योगिनः ।

कामद मोक्षद चैव ॐकाराय नमो नमः ॥

बिन्दु महिन ॐकार का योगीजन नित्य ध्यान करने है। यह ॐकार इच्छित पदार्थ-दाता और मोक्षप्रदाता है। उस ॐकार को नमस्कार हो।

उपनिषद्कार के मन्त्रों में—ॐकारे परमात्मप्रतीके दुइमैकाद्यमक्षणा मनि मन्तनुयान्-छादोम्बोपनिषद् जाकर ध्याय । १, १ । इसे 'प्रणव' नाम में भी सम्बोधित किया जाना है, क्योंकि यह कभी भी जीर्ण नहीं होता। इसमें प्रतिक्षण नवीनता का संचार होता है और यह प्राणों को पवित्र और संतुष्ट करना है। 'प्राणान् सर्वान् परमात्मनिप्रणामयतीत्येत्स्मात् प्रणवः ।'

ऊपर कहे गये जमोकार मन्त्र की मन्सरूपता मन्त्र के साथ पढ़े जाने वाले माहात्म्य से निर्विवाद सिद्ध होती है। आनन्दों में अन्य अनेकों मन्त्रों को भी मन्सरूपता प्राप्त है, पर मुख्यतः दो ही प्रसंग ऐसे आते हैं, जिनमें मन्सरूपता

का स्पष्टन उन्नेत्य है — 'जमोकार मन्त्र' और 'मगलोन्मगर्गणपाठ ।' जमोकार मन्त्र के सम्बन्ध में कहा गया है—

'एसो पच जमोयारो मव्वपावपणामसो ।

मगमाण च मव्वेमि पढम हवड मगल ॥'

यह पच नमस्कार सर्व पापों को नाश करने वाला और एवं मगलो में प्रथम मगल है ।

उक्त विवरण के प्रकाश में, मगल कार्यों में 'ॐ' का प्रयोग किया जाना स्पष्टन परिष्कृत होता है, जो उचित ही है । पर 'स्वस्मिक' के सम्बन्ध में अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है । कोई इसे चतुर्गति भ्रमण और मुक्ति का प्रतीक मानना चला आ रहा है तो कोई ब्राह्मी लिपि के 'ऋ' वर्ण के समान मानकर इसे ऋषभदेव का प्रतीक मिट्ट करने के प्रयत्न में है । मन ऐसा भी है कि यह 'सम्भाषक' के भाव में है । तात्पर्य यह कि अभी कोई निष्कर्ष नहीं मिल रहा है । अतः उसकी वास्तविकता पर विचार करना श्रेयस्कर है ।

स्वस्ति, स्वस्तिक या साधिया

'स्वस्मिक' सम्भूत भाषा का अव्ययपद है । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इसे ईयाकरण कौमुदी में ५६वें क्रम पर अव्यय पदों में गिनाया गया है । यह 'स्वस्मिक' पद 'सु' उपसर्ग तथा 'अस्मि' अव्यय (क्रम ३१) के मयोंग में बना है, यथा — सु + अस्मि स्वस्मि । इसमें 'इकांयणचि' सूत्र में उकार के स्थान में वकार हुआ है ।

बहुत से लोग 'अस्मि' को क्रियापद मान कर उसका 'हैं' या 'हो' अर्थ करते हैं, जो उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ 'अस्मि' पद क्रियारूप में नहीं है, अपितु 'तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय' है । जैसे कि 'अस्मिन्शीर्ग' में तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है । वैसे 'स्वस्मि' में भी 'अस्मि' को अव्यय माना गया है, और 'स्वस्मि' अव्यय पद का अर्थ कल्याण, मगल, शुभ आदि के रूप में किया गया है । प्रकृत में उपसर्गित 'स्वस्मिक' शब्द भी इसी 'स्वस्मि' का बाधक है । जब 'स्वस्मि' अव्यय में स्थाय में 'क' प्रत्यय हो जाता है, तब यही 'स्वस्मि' प्रकृत में 'स्वस्मिक' नाम पा जाता है । परन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं होता । 'स्वस्मि' एवं 'स्वस्मिक' की इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो 'स्वस्ति' है वही 'स्वस्मिक' है और जो 'स्वस्तिक' है वही 'स्वस्ति' है । उक्त प्रसंग में ऐसा फलित हुआ कि सभी 'स्वस्ति' स्वस्तिक है और सभी 'स्वस्मिक' 'स्वस्ति' हैं, अर्थात् 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' में कोई भेद नहीं है । यतः—'स्वस्ति एव स्वस्तिक' ।

प्राकृत भाषा में 'स्वस्ति' या 'स्वस्मिक' के विभिन्न रूप मिलते हैं। जिन रूपों का प्रयोग मंगल, क्षेम, कन्याण जैसे प्रसन्न अर्थों में किया गया है, उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) सन्धि (स्वस्मि) 'सन्धि करेई कवि नो' । --पउमचरित, ३५।६२,

(२) सन्धि (स्वस्मि क्षेम, कन्याण मंगल, पुण्य आदि), हे० २।४५, म० २१ ।

(३) सन्धिञ (स्वस्मिक) प्रश्न व्याकरण, पृ० ६८, मुपामनाह चरित्र ५२, आ० प्र० सू० २७ ।

(४) सन्धिक, ग (स्वस्मिक) प ३१ म३ महणव कोष, पञ्चमक प्रकरण ६।२३ ।

(५) मोन्धय (स्वस्मिक) पाइय म३ महणव कोष, पञ्चमक प्रकरण ।

(६) मोवन्धिञ (स्वस्मिक) उववाऽ सूत्र, ज्ञान धर्मकथा, पृष्ठ ५६ ।

उक्त सभी शब्द-रूपों में मंगलभाव निहित है। अतः यह निश्चय ही हो जाता है कि 'स्वस्मि' और 'स्वस्मिक' का प्रयोग भी 'स्व' की भाँति मंगल निमित्त होना चाहिए ।

अब प्रश्न यह होता है कि जैसे 'स्व' को 'व' परम्पटी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वैसे स्वस्मिक को किसका प्रतिनिधित्व प्राप्त है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि—

जब यह निश्चय हो चुका कि 'स्वस्मिक' निर्माण में मंगल कामना निहित है, तो यह भी आवश्यक है कि इसमें भी 'स्व' की भाँति कोई मंगल निहित होना चाहिए। इसकी खोज के लिए जब हम जमोकार मन्त्र में आगे चलते हैं, तब हमें उसी पाठ में परम्परागत चतुर्गण पाठ मिलता है और इस पाठ को स्पष्ट रूप में मंगल घोषित किया गया है, यथा—'चत्तारिमंगल' इत्यादि। इस पाठ को आज सभी जैन आबालवृद्ध पढ़ते हैं। पूरा पाठ इस भाँति है—

'चत्तारिमंगल' । अरहता मंगल । मिद्धा मंगल, माहू मंगल, केवलि पण्णत्तो छम्मो मंगल ।

चत्तारि लोगुत्तमा । अरहता मांगुत्तमा । मिद्धा लोगुत्तमा । माहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो छम्मो लोगुत्तमा

चत्तारिमरण पवज्जामि । अरहते सरण पवज्जामि । मिद्धे सरण पवज्जामि । माहूसरण पवज्जामि । केवलि पण्णत्त छम्म सरण पवज्जामि ।

उक्त पूरा पाठ 'मंगलोत्तमशरण' या 'चतुःशरण' पाठ के नाम से प्रसिद्ध है और जमोकार मन्त्र के क्रम में उसी के बाद बोला जाता है। यह मंगल अर्थात् 'स्वस्ति पाठ' जमोकार मन्त्र की भांति प्राचीनतम प्राकृत भाषा में निबद्ध और मंगल शब्द के निर्देश में युक्त है। अन्य स्थलों पर हमें बहुत से अन्य मंगल भी मिलते हैं। पर वे न तो प्रतिदिन नियमित रूप में सर्व साधारण में पढ़े जाते हैं और न ही मूल मन्त्र—जमोकारगन पंच परमेष्ठियों का बोध कराते हैं। अतः 'मंगल' में चत्वारि-पाठ की प्रमुखता जमोकार मन्त्र की भांति सहज सिद्ध हो जाती है।

स्थानकवासी संप्रदाय में 'चत्वारिमंगल' पाठ 'मंगली' के नाम से ही प्रसिद्ध है। यद्यपि जब कोई श्रावक मंगल कामना में माधु-माध्वियों में प्रार्थना करता है कि महाराज ! 'मंगली' सुना दीजिए, तो वे महर्षि 'चत्वारिपाठ' द्वारा उसे आशीर्वाद देते हैं। इस मंगल पाठ का भाषान्तर (हिन्दी रूप) भी बहुत बहुलता से प्रचारित है, यथा—

'अरिहंत जय जय, मिद्ध प्रभु जय जय ॥
साधु जीवन जय जय, जिन धर्म जय जय ॥
अरिहंत मंगलं, मिद्ध प्रभु मंगलं ।
साधु जीवन मंगलं, जिन धर्म मंगलं ॥
अरिहंत उत्तमा, मिद्ध प्रभु उत्तमा ।
साधु जीवन उत्तमा, जिन धर्म उत्तमा ॥
अरिहंत शरणा, मिद्ध प्रभु शरणा ।
साधु जीवन शरणा, जिन धर्म शरणा ॥
ये ही चार शरणा, दुख दूर हरना ।
शिव सुख करना, भवि जीव हरना ॥'

इस सर्व प्रसंग का तात्पर्य ऐसा निकला कि उक्त मूल-पाठ जो प्राकृत में है और 'चतुःमंगल' रूप में है, वह मंगल, कल्याण, शान्ति और सुख के लिए पढ़ा जाता है तथा 'स्वस्ति या स्वस्तिक' (मंगल कामना) से सम्बन्धित है।

'दिगम्बर आम्नाय' में पूजा को श्रावक के दैनिक षट्कर्मों में प्रथम गिनाया गया है। वहाँ प्रथम ही देवनास्त्रगुरु की पूजा की जाती है और पूजा का प्रारम्भ दोनों (जमोकारमन्त्र और चतुःशरण पाठ) और उनके महात्म्य से होता है। जैसे जमोकार मन्त्र वाचन का प्रथम क्रम है, वैसे उसके महात्म्य वाचन का क्रम भी प्रथम है, यथा—

अपवित्र. पवित्रो व सुःस्वितो दुःस्वितोऽपि वा ।
 ध्यायेन् पवनमस्कार सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
 अपवित्र. पवित्रो वा सर्वाऽग्न्याङ्गतोऽपि वा ।
 य स्मरेन् परमात्मान स. बाह्याऽभ्यतरे. बुद्धिः ।
 अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ।
 मगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मगलं मतः ॥
 एको पञ्चमोऽयं स मगलं पावप्यनामजो ।
 मगलाणं च मध्येमि, पञ्चमं हवद् मगलं ॥

इसी क्रम में जब हम पूजन प्रारम्भ करते हैं, हमें 'मगलोत्तमस्मरण पाठ' का माहात्म्य और 'मगलोत्तमस्मरण पाठ' के मूलभूत अग्रहत, सिद्ध, माधु और धर्म के विशेष गुण पढ़ने को मिलते हैं। यथा —

'स्वस्मि' त्रिलोकगुरुष्वे जिनपुत्रवाय,
 स्वस्मि स्वभावमहिमोदयमुत्थिताय ।
 स्वस्मि प्रकाशमहजोजितदुःखमाय,
 स्वस्मि प्रमन्नललिताद्भूतवैभवाय ॥
 स्वस्म्युच्छलद्बिम्बलबोधमुधात्मवाय,
 स्वस्मि स्वभावपरमार्थविभासकाय ।
 स्वस्मि त्रिलोकविनयैकचित्तदुग्धमाय,
 स्वस्मि त्रिकालगकलायनविभूताय ॥'
 इत्यादि ।

उक्त प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी श्लोकों में ग्रहीत पद 'स्वस्मि' ही है, जो हमें 'स्वस्मिक' नाम में मिलता है, क्योंकि यह पढ़ने ही कहा जा चुका है कि 'स्वस्मि एव स्वस्मिकम्' । ऊपर के वर्णन में हमें देव (अग्रहत-सिद्ध) और धर्म (बांध) की स्पष्ट झलक मिल रही है और इनको मगल कहा गया है, तथा 'स्वस्मि' और स्वस्मिक दोनों का अर्थ मंगल है। आगे चल कर इसी पूजा प्रसंग में हम माधुओं की 'स्वस्मिकपता' उनकी श्रद्धियों के वर्णन में पढ़ते हैं। अग्रहत रूप में तीर्थंकरों की 'स्वस्मि'-रूपना पढ़ने को मिलनी है। अग्रहत और माधुओं के लिए निम्न स्वस्मि' विधान है—अग्रहत स्वस्मि—

श्री वृषभो न. स्वस्ति, स्वस्ति श्री अजितः ।

श्री मधवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनंदनः ॥

इत्यादि ।

साधु स्वस्ति—

नित्याप्रकराद्भुतकेवलीयाः,

स्फुरन्मनः पर्यय शुद्धबोधाः ।

विध्याबध्निज्ञानबलप्रबोधाः,

स्वस्ति क्रियामु परमर्षयो नः ॥

कोष्ठस्थ धान्यपममेकवीज,

मभिन्नमंज्रोत्पदानुसारि ।

चतुर्विध बुद्धिबलंदधानाः,

स्वस्तिक्रियामु परमर्षयो नः ॥ इत्यादि ॥

ऊपर के ममस्त प्रसंग में यह भली भाँति सिद्ध है कि अरहंत आदि चारों 'स्वस्ति' रूप हैं और जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है यह स्वस्ति उस 'स्वस्तिक' का ही रूप है, जिसे ॐ आकार में स्थापित किया जाता है। यत.— 'स्वस्ति एव स्वस्तिकं ।'

जैन धर्म के ग्रन्थों में मंगलों का चलन छह प्रकार से माना गया है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के अनुसार कर्ता [यथाशक्ति] इन छहों में किसी को भी अपनाकर कार्य प्रारम्भ कर लेता है। ॐ और स्वस्तिक ये दोनों स्थापना मंगल में आते हैं और ये दोनों ही बृहत्शक्ति के लघु (बीजरूप) हैं। मंगल के छह प्रकार इस भाँति हैं—

णामणिट्ठावणा दग्धलेत्ताणि कालभावा य ।

इयच्छमेय भणिय, मंगलमाणदमजण ॥'

— तिलोपपण्णत्ति १।१८

नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्र मंगल, कालमंगल और भाव-मंगल ये मंगल के छह प्रकार हैं।

जैसे शान्ति प्राप्त्यर्थ मुक्तद्वारा, भावों द्वारा मंगलाचरण, किए जाते हैं वैसे ही काय द्वारा स्वस्तिक-रचना-रूप मंगल किया जाता है। यह तो पूर्ण निर्विवाद है कि —

'मंगल कीरदे पारद्वक्कजविग्घयरकम्मविशामणट्ठ ।'

— कसाय पाहुड १।१

'सत्त्वियणंदावत्तयपमुहा० ।'

— ति० प० १।३

प्रारम्भकार्यों में विघ्न निवारण के लिए मंगल किया जाता है। या स्वस्तिक, नद्यावतं प्रमुख कार्य किए जाते हैं। भरत जैसे चक्रवर्ती ने भी

दिग्विजय के बाद शिला पर अपना नाम लिखने में भी 'स्वस्तिक' का प्रयोग किया है। तथाहि—

‘स्वस्नीधुवाकुलकुलव्योमनसप्रानेयदीधिति ।

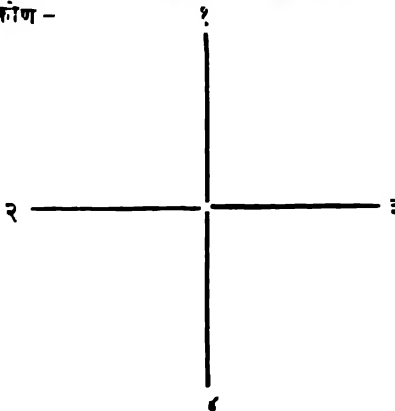
चातुरन्तमहीभर्ता भरतः शातमानुर ॥” — आदिपुराण ३२।१४५

तीर्थकरो के शरीर सबधी १०८ लक्षणों में भी स्वस्तिक एक शुभचिह्न माना गया है—

इसमें सदेह नहीं कि मंगल, सुख, शान्ति व कल्याण के लिए चारों मंगलों, चारों उत्तम, और चारों शरण (पाठ) का आमरा लिया जाना है। गृहस्थाचार सम्बन्धी कार्यों में जो यत्र पूजा-विधानादि में स्थापित किए जाते हैं, उन यत्रों— विनायक यत्र, शान्तिविधान यत्र, शान्तियत्र, में ‘चत्वारि-मंगलोत्तमशरण’ पाठ लिखा होता है, इस सबमें यही मिश्र होता है कि स्वस्तिक इन्हीं चारों का प्रतिनिधि होना चाहिए।

प्रश्न होता है कि स्वस्तिक का जो रूप प्रचलित है उसकी मंगलोत्तम शरण पाठ में मंगल कौनसे बिठाई गई है? पर यह प्रश्न स्वस्तिक की बनावट में सहज ही हल हो जाता है। स्वस्तिक बनाने वाले का भाव मंगलोत्तमशरण की स्थापना का है और वह एक एक पद के लिए एक एक विधि पूरी करना जाना है। यद्यपि मूल (आज) विस्मृत होने में वह ऐसा भाव नहीं बिठा पाता जो कि उसे बिठाना चाहिए। वास्तव में स्वस्तिक रचना के समय जो भावना रहनी चाहिए उसका रचनाक्रम इस प्रकार है (स्मरण रहे कि रचना बनाने समय प्रतिपद उच्चारण के साथ ही चिह्न बनाना चाहिए)

चत्वारिमंगल, चत्वारिगुणमाओर चत्वारिशरण की चार मङ्गलों के प्रतिनिधि चार कोण—



छत्ते-छत्ते :

परिशिष्ट

(अपदेशसप्तमः)

धबला टीका समन्वित पट्पडागम की जीवस्थान नामक सत्प्रकरण की प्रथम पुस्तक हमारे हाथों में है। इसमें आए 'मन' 'अपदेश' दोनों शब्द हमारी दृष्टि में हैं। ये ही शब्द समयसार की १५वीं गाथा में अर्थ की दृष्टि से बिबाद के विषय बने हुए हैं और इनके स्पष्टीकरण के प्रयत्न हमने भी अपने 'अपदेश-मत्तमज्ज' प्रसंग में किए हैं। अब मन के सम्बन्ध में इतना विवेक है कि -

१. पट्पडागम के मानवे सूत्र में 'मनपरूषणा' पद का और धबला में 'मनाणियोग' पद का प्रयोग मिलता है। इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ १५५ पर एक टिप्पण भी मिलता है जो तन्त्रार्थ राज वा० के सूत्र का कुछ अंश है 'मन्त्र ह्यव्यभिचारि' इत्यादि। ऐसे ही पट्पडागम के आठवें सूत्र में 'मन' पद है। यथा - 'मनपरूषणादा'। इसके विवरण में मन् मन्त्रमित्यर्थ भी मिलता है। इसी पुस्तक में पृ० १४८ पर कहीं में उद्धृत एक गाथा भी मिलती है। यथा - 'अन्यत् पुनमन अन्यत्तम्म य नहेव परिमाण।' इस गाथा के अर्थ में लिखा है कि—अमित्य का प्रतिपादन करने वाली प्रकरणों को मन्प्रकरण कहते हैं। यहाँ भी 'मन' शब्द दृष्टव्य है।

उक्त पूरे प्रसंग में दो नये सामने आते हैं। पहिला यह कि मन्ही जगह 'मन' का प्रयोग 'मन्कृत के मन्' शब्द के लिए हुआ है। यह बात भी किसी ने छिपी नहीं कि 'मनपरूषणा' में उन्ही 'मन्' का वर्णन है जिसे तन्त्रार्थ सूत्रकार ने 'मन्त्रव्याख्ये' सूत्र में दर्शाया है। यानी जिसे मन्कृत में 'मन्' कहा बही प्राकृत में 'मन' कहा गया है। अतः मन का मन् स्वभावतः फलित है। दूसरा नये यह कि 'मन्' शब्द मन्त्र के भाव में है, अतः मन्, मन, मन्त्र, मत्त ये सभी एकार्थवाची मिश्र होते हैं। पुस्तक के अन्त में जो 'सत्सुत-विवरण सम्मत्त' आया है उसमें भी 'मन' का प्रयोग मन् के लिए ही है।

'सत्त' शब्द के प्रयोग 'मन्' अर्थ में अन्यत्र भी उपलब्ध है। यथा--

—'सत्तकम्ममहाहियारे'—अय. ध. अ. ५१२ व प्रस्तावना ध. प्र. पु. पृ. ६६

—‘एमो संत-कम्मपाहुइ उवाएमो’— धव० प्र० पु० पृ० २१७

—‘आयग्गि कहिियाण सनकम्मकमायपाहुडाण’— वही, पृ० २२१

सत्त महाघवलप्रति के अन्नगंत ग्रन्थ रचना के आदि में ‘संतकम्म-पंजिका’ है। इसके अवतरण में अश्वी ‘सत्त’ शब्द भी मेरे देखने में आया है ‘पुणो नेहो मेमट्ठाग्गमाणियोगद्वाग्गि सत्तकम्मे मव्वाणि परविदाणि।’— यह संतकम्मपंजिका नाट्यत्रीय महाघवल की प्रति के २७वें पृष्ठ पर पूर्ण हुई है और पट्खडागम पुस्तक ३ में इसका चित्र भी दिया गया है। (देखें— प्रस्तावना, पट्खडागम पुस्तक ३ पृ० १ व ७) अतः इस उद्धरण में इस बात में नरिक्त भी सन्देह नहीं रहना कि प्रसंग में ‘संत’ या सत्त शब्द सत्त्व—आत्मा के अर्थ में ही है। और मज्झं का अर्थ मध्य है जो ‘आत्मा को आत्मा के मध्य अर्थ ध्वनित करना हुआ आत्मा में आत्मा का एकत्वपन झलका कर आत्मा को अन्य पदार्थों में ‘अमयुक्त’ मिट्ट करती है।

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा २६ में ‘अनमज्झ’ पद का और समयसार की गाथा १५ में ‘सन्मज्झ’ या सत्तमज्झ’ का प्रयोग किया है और नियमसार की उक्त गाथा की संस्कृत छाया में ‘अनमज्झ’ का अर्थ ‘आत्म-मध्य’ किया है। इसी प्रकार ‘सन्मज्झ’ या ‘सत्तमज्झ’ की संस्कृत छाया भी सन्मध्य या सत्त्वमध्य है यह सिद्ध होता है।

लेखक-चिन्तय—

जैनी अहिंसक होता है। समताभाव में और विरोधों में अछूना। आचार्यों के प्रमाणों से पूर्ण, प्रसन्न मनोबल भी जिनवाणी के स्वरूप को सुरक्षित रखने की दृष्टि से लिखा गया है—‘अहिंसायुक्तं कृतं न दोषोऽयम्।’

